

पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 45 मार्च-अप्रैल, 2013

संपादक

भारत भारद्वाज



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 45 मार्च-अप्रैल, 2013

प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिंदीविश्व

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे

email : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20

वार्षिक सदस्यता : ` 120

चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटेर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

संपादकीय संपर्क :

211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-VARTĀ

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटेर्स, दिल्ली-110032 (09212796256) email : ruchikaprinters2005@gmail.com

आवरण : लाओस का वार्षिक पाण्डुलिपि उत्सव 'बून बाई लान' पाण्डुलिपियों के संरक्षण की दिशा में एक अभिनव कदम है। उत्सव के दौरान लाओस के बौद्ध विहार अपने सम्पूर्ण पाण्डुलिपि संग्रह को कोषागार करने के उपरांत संग्रह को पुनः कोषागार में सुरक्षित रख दिया जाता है। आवरण छवि : सर्वाधिकार नेशनल लाइब्रेरी ऑफ लाओस (सार्वजनिक स्वीकृति के अंतर्गत साभार)

आवरण संयोजन एवं परिकल्पना : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: श्री वेंकटेश्वर स्टीम छापाखाना, बंबई (1871 ई.)/ भारत भारद्वाज	4
पुस्तकें और मैं	: कारवां गुज़र गया.../ हसन जमाल	6
उपन्यास	: प्रतिरूप : गरीबी के सामाजिक जीवन का इतिहास/ रामशंकर द्विवेदी	9
	: कथा के बहाने विचार-बिन्दु/प्रीति सागर	10
	: तीन विधाओं का सामंजस्य, पर तनाव भी/राजकुमार सैनी	12
कहानी	: गहरे सरोकारों वाली सोद्देश्य कहानियां/रजनी गुप्त	14
	: सर्वहारा की कहानियां/सरिता शर्मा	16
	: ब्रेकिंग न्यूज : खुरदरे यथार्थ की कहानियां/सुभाष शर्मा	17
	: छले गए लोगों प्रतिरोध की कहानियां/वेदप्रकाश अमिताभ	20
कविता	: निजी त्रासदी से ऊपर उठकर/गीता शर्मा	21
	: काशी कैनवस की सजल-विरल संवेदना/कुमार अनुपम	23
	: भावुक ही नहीं विमर्श भी है 'जनतंत्र का अभिमन्यु'/वीरेन्द्र सारंग	25
	: अब तो बस कविता ही रह गई है अंतिम अवलंब.../अभिषेक शर्मा	27
	: अत्यंत सार्थक और सफल काव्यानुवाद/श्याम कश्यप	28
आलोचना	: नामवर-समग्र का समाहार/रेवती रमण	30
	: स्वयं के अस्वयं होने की प्रक्रिया/प्रेम भारद्वाज	33
	: हिंदी कविता के संस्पर्श में उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श/श्रीकांत सिंह	35
	: आत्मकथा के बहाने उपन्यास का सच/कमलेश सिंह	37
	: उपन्यास की भरसक पड़ताल/वंदना मिश्रा	38
आत्मकथा	: मजदूर आंदोलन : एक इतिहास—एक जीवन/शिवरतन थानवी	40
राजनीति	: बीते दस साल का भारत/प्रेमपाल शर्मा	44
रंगकर्म	: लोक का रंग अरंग और नाटक का जनतंत्र/मनोज मोहन	46
चित्रवीथी	: आज भी जीवित है लाओस में ताड़पत्रों पर लेखन की कला	48
भाषाविज्ञान	: शब्दों का कारोबार/भगवान सिंह	52
संस्मरण	: अंधेरे के विरुद्ध अभियान/केवल गोस्वामी	56
	: 'पिछले पन्ने' : गुज़िश्ता वक्त का खैरक़दम/ज्ञानप्रकाश विवेक	57
यात्रा	: लेखक-यात्री के साथ रोमानिया की सैर/वीरेंद्र शर्मा	59
सात समंदर पार	: सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' का अंतर्पाठ/साधना अग्रवाल	60
हस्तक्षेप	: राजनीति के अंतर्जगत का अनावरण/अनंत विजय	63

श्री वेंकटेश्वर स्टीम छापाखाना, बंबई (1871 ई.)

कि

सी साहित्यिक पत्रिका का एक अच्छा संपादक न केवल अपने समय में, बल्कि समकालीन रचनाशीलता में भी, हस्तक्षेप करता है। वह साहित्य का पथ प्रशस्त करता है। इसका आदर्श उदाहरण भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र हैं। भारतेन्दु ने अपने जीवनकाल में तीन पत्रिकाओं— 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'बालबोधिनी' का संपादन किया। 'प्रेमघन' ने 'आनंद कादंबिनी', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप', केशवराम भट्ट ने 'बिहार बंधु' और प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' के संपादन किए। ये तमाम पत्रिकाएँ भारतेन्दु-युग के बाद भी निकलती रहीं। इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास निर्मित हुआ। 1900 ई. में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से मासिक 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ और 1903 ई. से यह पत्रिका आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में निकलने लगी और उनके संपादन में 17 वर्षों तक यानी सन् 1920 ई. तक निकली। जब आचार्य द्विवेदी ने इस पत्रिका के संपादन का कार्यभार ग्रहण किया था, उनके सामने अनेक चुनौतियाँ थीं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली कविता को लेकर उहापोह था। लेकिन द्विवेदी जी ने अपने संपादन काल में इसे संतुलित किया। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने खड़ी बोली के दो महान कवियों— हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त—को आधुनिक कविता के परिदृश्य पर लाया।

एक और बड़ा काम उन्होंने यह किया कि रामचंद्र शुक्ल को आलोचक बनाया। शुक्लजी का लेख 'कविता क्या है?' पहली बार 'सरस्वती' में सन् 1907 में प्रकाशित हुआ, बाद में इस लेख के उन्होंने दो-तीन ड्राफ्ट किए।

हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार एवं 'हंस' के संपादक राजेंद्र यादव की तरह संपादकीय लिखने में मेरी कतई रुचि नहीं है। मुझे अच्छे लगते हैं, 'कथादेश' के संपादक हरिनारायण जो कभी संपादकीय नहीं लिखते। उनकी खाली जगह को अब उस पत्रिका के स्तंभ 'प्रसंगवश' में भर रही हैं अर्चना वर्मा। साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकीय 'आलोचना' सहित बहुत चलताऊ होते हैं। हम न किसी साहित्यिक प्रवृत्ति को ठीक से उठाते हैं, न विवाद और न ही सृजन को। हम प्रायः विलाप करते हैं। 'आलोचना' कभी साहित्य की एक बेहद अच्छी पत्रिका थी। एक ऐसी पत्रिका जिसमें छपकर लोग आलोचक की गरिमा पाते थे। लेकिन वर्तमान संपादक ने इस पत्रिका का स्तर इतना नीचे गिरा दिया कि इसमें अब कोई भी छप सकता है।

एक अच्छा संपादक रचनाशीलता का प्रहरी होता है। बड़े लेखकों पर दबाव डालकर लिखवाता है, महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ करवाता है। अपने विवेक से प्राप्त या अयाचित रचनाओं का संपादन करता है। 'सरस्वती' के संपादक आचार्य द्विवेदी का मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ। श्री शारदा (जबलपुर) के संपादक ने पहली बार मुकुटधर पांडेय से आग्रह करके 'छायावाद'

पर चार निबंध लिखवाए, जो उनकी पुस्तक 'हिंदी में छायावाद' में संकलित हैं। इन लेखों का प्रकाशन-काल है—सन् 1920 ई.। तब छायावाद हिन्दी साहित्य में एक नया शब्द था। यदि ये निबंध नहीं लिखे गए होते तो डॉ. नामवर सिंह 'छायावाद' पर नहीं लिखते। उसी तरह 'मतवाला', 'विशाल भारत', 'रूपाभ', 'साहित्य संदेश' और 'प्रतीक' जैसी पत्रिकाओं की भी एक बड़ी भूमिका है। इन पत्रिकाओं ने अनेक लेखकों को संवारा और बनाया। मुझे लगता है, संपादकीय दबाव में ही अधिकांश आधुनिक साहित्य का सृजन हुआ है। यदि आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं हो तो डॉ. नामवर सिंह से पूछ लीजिए। 1967 में वे 'आलोचना' त्रैमासिक के संपादक हुए। तब से बीच में एक छोटा अंतराल आया, जब नामवर सिंह इस पत्रिका के संपादन से अलग हुए। फिर जुड़े और दस वर्षों तक 'आलोचना' के प्रकाशन के स्थगन के बाद नई सहस्राब्दि के आरम्भ से 'पुनर्नवा' हुई आलोचना से जुड़े और अब तो वे इसके प्रधान संपादक हैं। उन्होंने दबाव डालकर युवा आलोचकों से 'आलोचना' में लिखवाया ही नहीं, साहित्यिक संसार में उन्हें प्रतिष्ठित भी किया।

साहित्य के सृजन और प्रकाशन में प्रकाशक और प्रेस की भी बड़ी भूमिका होती है। अमूमन कई प्रकाशकों के साथ अपना प्रेस होता है और कई प्रेस प्रकाशन भी स्वतंत्र रूप से करते हैं। उदाहरण के लिए नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (1858 ई.); खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना (1878) और श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई (1871 ई.)।

आधुनिक हिन्दी के प्रचार-प्रसार में इन प्रेसों से महत्वपूर्ण पुस्तकें निकलीं। यदि ये प्रेस न होते तो आधुनिक हिंदी साहित्य वहां नहीं होता जहां आज है। इन तीन प्रेसों के मालिक हिंदी के अनुरागी थे और हिंदी के हित में उनसे जितना बन पड़ा, किया। श्री वेंकटेश्वर स्टीम छापाखाना, बंबई (1871) के आरंभ होने की कहानी बेहद दिलचस्प है। स्व. डॉ. धीरेंद्र नाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका' में इस प्रेस पर जितना लिखा है, साभार मैं उद्धृत कर रहा हूँ। मैंने अपने भरसक पूरी कोशिश की और पत्रकारिता पर लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें उलटने-पलटने के बाद भी मुझे अतिरिक्त सामग्री नहीं मिली। बल्कि 'हिंदी साहित्य कोश' में भी इस पर कोई प्रविष्टि नहीं है। धीरेंद्रजी लिखते हैं—'मुद्रण-प्रकाशन के नवलकिशोर-युग की विश्व-विश्रुत प्रकाशन संस्थाओं में श्री वेंकटेश्वर छापाखाना अन्यतम है। हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं पर भारी संख्या में पुस्तक-प्रकाशन तथा उसका समुचित प्रकाशन कर इस संस्था ने अनोखा कार्य किया है।'

बीकानेर जिले (अब जयपुर) के चुरू निवासी गंगाविष्णु और खेमराज दो युवक जीविका की खोज में घर से पदयात्रा करते हुए लगभग पांच सौ मील दूर रतलाम पहुंचे। यहां अपने को निराश्रित पाकर नरसिंह मंदिर में रहने लगे। दलाली से उन्हें जो आय होती थी, उससे अपना गुजारा करते तथा नरसिंह भगवान की उपासना करते। मंदिर का महंथ उनकी आस्तिक प्रवृत्ति से प्रसन्न था। महंथ स्वयं तिरुपति वेंकटेश्वर का उपासक था। दोनों भाइयों की भक्ति से प्रभावित होकर

उसने दोनों भाइयों से कहा : 'श्री वेंकटेश्वर भगवान् का आदेश है कि तुम दोनों दक्षिण की ओर जाकर पुस्तकों का व्यवसाय करो। सफलता मिलेगी।' उन्हीं के आदेश पर दोनों भाइयों ने बंबई में पुस्तकों की खरीद-बिक्री शुरू की। बंबई से पुस्तकें खरीदकर वे पटना और सोनपुर मेले में बेचते थे। एक बार उन्होंने एक व्यापारी से सौ रुपये लेकर सोनपुर मेले में पांच सौ रुपये की पुस्तकें बेचीं। इसमें उन्हें चार सौ रुपये की आय हुई। इसी मुनाफे में उन्होंने बंबई के मोतीबाजार में दो रुपये महीने में एक कमरा किराए पर लिया। कमरे में उन्होंने सन् 1871 ई. में श्री वेंकटेश्वर प्रेस की नींव डाली। यह लीथो प्रेस था। रतलाम के महंथजी ने श्री वेंकटेश्वर भगवान की प्रेरणा से मुद्रण-प्रकाशन के लिए उत्साहित किया था इसलिए उस प्रेस का नाम श्री वेंकटेश्वर प्रेस रखा गया। इस लीथो प्रेस का चित्रण करते हुए लिखा गया है—'सौ बरस पहले के इस प्रेस के उपकरण ही क्या थे, हाथ से चलनेवाला एक प्रेस और थोड़े टाइप। बड़े भाई गंगाविष्णु जी कंपोज करते थे और छोटे भाई खेमराज हैंडप्रेस में कागज रखकर हैंडल दबाते थे। छपाई का यही तरीका था। गंगाविष्णुजी को मामूली अक्षर ज्ञान था। इसलिए अक्षरों के संयोजन का काम उनके जिम्मे था। लेकिन उसके आगे का सब काम खेमराज जी करते थे। इस प्रेस से सबसे पहले 'विष्णु सहस्रनाम' तथा 'हनुमान चालीसा' छपी थी। उन्हें बेचने का काम भी खेमराजजी के जिम्मे था।

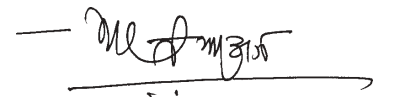
बंबई के खेतवाड़ी में सन् 1880 में दोनों भाइयों ने प्रेस के लिए जमीन खरीदी और प्रेस का अपना भवन बनाया। सन् 1880

ई. में इसी भवन में श्री वेंकटेश्वर प्रेस ने टाइप-प्रिंटिंग प्रेस का रूप ग्रहण किया।

हिंदी मुद्रण-प्रकाशन के क्षेत्र में इस प्रेस का विशेष योगदान रहा है। इस संस्था से हिंदी और संस्कृत के लगभग तीन हजार ग्रंथ मुद्रित और प्रकाशित हुए। इस मुद्रणालय से मुद्रित पुस्तकों की यह विशेषता थी कि बंबईया मोटे टाइप में बढ़िया कागज पर सुंदर छपाई होती थी। साथ ही यह दोष भी था कि यहां से प्रकाशित ग्रंथों में—मुद्रण-संबंधी—अशुद्धियों की भरमार रहती थी।' (पृ. 73-74)

इन दोनों अर्द्धशिक्षित भाइयों ने जिस निष्ठा, लगन और परिश्रम के साथ हिंदी की सेवा की। हमें उनका ऋणी होना पड़ेगा। दिलचस्प बात यह है कि सोनपुर, जो मेरे नगर शहर हाजीपुर से सटा है, जहां अब भी कार्तिकपूर्णिमा के आसपास एशिया का सबसे बड़ा पशु मेला लगता है, उस मेले में उन्होंने पुस्तकें बेचकर मुनाफा कमाया और श्री वेंकटेश्वर प्रेस की नींव डालीं। अनुमानतः आरम्भ में उन्होंने धार्मिक पुस्तकें छापीं, जो मेले में बिकीं। यह एक अपूर्व और अश्रुत उदाहरण है।

इलाहाबाद के कथाकार ज्ञानप्रकाश भी इस बीच नहीं रहे। जब वे नवयुवक थे, 'सिर्फ' (संपादक नंदकिशोर नवल) द्वारा आयोजित दो-दिवसीय (27-28 दिसंबर, 1970) राष्ट्रीय संगोष्ठी में वे शामिल थे। उनके प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि।



कारवां गुज़र गया...

हसन जमाल

ए

सा कौन अभागा होगा, जो दरिया किनारे बैठकर प्यासा रह जाए। वो मैं हूँ। सन् 1961 से 1969 तक मैं जोधपुर ज़िले के क़स्बे बिलाड़ा की एक छोटी अदालत में छोटा बाबू था। उन बरसों में मेरी ज़्यादातर शामें सदर बाज़ार में राजकीय लाइब्रेरी की छत पर गुज़रती थीं। मगर किताबों से मेरा रिश्ता नहीं जुड़ा, जबकि लाइब्रेरियन से मेरी मित्रता थी और रैकों में सजी हज़ारों किताबें मेरी निगाहे-ग़लत की मुन्तज़िर रहती थीं। मगर वो तमाम मेरे लिए गोया वर्जित फल थीं। इससे पहले सन् 60-61 के दरमियान स्कूल से निकल कर, जब मैं नौकरी के इंतज़ार में था, तब घर के पुश्तैनी धन्धे रंगाई-छपाई से फुर्सत पाकर जोधपुर की मुख्य लाइब्रेरी सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी के वाचनालय में जाकर बैठ जाया करता था। क़सम ले लीजिए, जो कभी पुस्तकालय में झांकने की कोशिश की हो या शायद अवचेतन में डर लगता रहा हो। बाद में जब अपने शहर जोधपुर में तबादला हो गया, तो कुछ लेखक किस्म के लोगों से राहो-रस्म बढ़ी, मगर वे मुझे अछूत समझते थे। कभी मुझसे न तो किताबों का ज़िक्र करते, न पढ़ने, बहस करने के लिए उकसाते। कॉलेज का मुंह कभी नहीं देखा, इसलिए कोर्स की किताबों से भी महरूम रहा।

इस सबके बावजूद मेरे लिए यह कहा जाता है कि मैं बहुत पढ़ाकू हूँ। जब भी मेरे 'ठिकाने' पर कोई मिलने आता है, तो मुझे किसी पत्रिका या किसी किताब में नज़रें गाड़े देखता है। कैसा विरोधाभास है।

हमारे परिवार का माहौल साहित्यिक नहीं था। मालूम नहीं, लिखने-पढ़ने का कीड़ा मुझे कैसे लगा? लिखने व पढ़ने का मेरा

सिलसिला बेटब रहा। जो काम मुझे शुरू में कर लेने चाहिए थे, वो नहीं किए। अब उन्हें करना दूभर है। अभी मेरी हालत उस गधे की-सी है जिसे चारों तरफ़ हरा ही हरा नज़र आता है। कहां से शुरू करे और कितना चरे? इसी चिन्ता में गधा भूखा रह जाता है। मेरी भी वही हालत है। मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी हर चीज़ से बेज़ारी और कमज़ोर ज़ेहन की बीमारी है। कुछ याद नहीं रहता। इसी वजह से मेरी तालीम अधूरी रही। कोर्ट में मुलाज़िम होते हुए भी क़ानून-काइदों में कोरा रहा। साहित्य के मैदान में आधी सदी गुज़ारने के बावजूद आज भी मैं खुद को आउट साइडर पाता हूँ। दूसरों को विद्वता की बातें करते हुए टुकुर-टुकुर देखता हूँ। मैं जितना पढ़ता हूँ, उसका दस फ़ीसदी ही अगर मेरे ज़ेहन में टिक जाए, तो मेरा बेड़ा पार हो जाए। अब जो नहीं है, उसका गिला-शिकवा क्या?

हमारे यहां अदबी माहौल चाहे न रहा हो, पढ़ने का सिलसिला तो था। वालिद



साहब के पास ज़्यादातर इस्लामी व तारीखी किताबें हुआ करती थीं या धार्मिक पत्रिकाएं जैसे—आस्ताना, मौलाना शौकतअली फ़हमी (शीबा असलम फ़हमी के ससुर) की दीन दुनिया, मौलवी वगैरह। उर्दू की मेरी तालीम भी माकूल न थी। मदसरे में कुर्आन-पठन के साथ, दो-तीन उर्दू की किताबें पढ़ी होंगी। आगे मुआमला स्वाध्याय का रहा। पड़ोस में रहने वाले हमारे चचा अब्दुर्रहमान को उर्दू पत्रिकाएं ख़रीद कर पढ़ने का शौक था। ख़ासतौर से फ़िल्मी रिसाला 'शमा', अदबी रिसला 'बीसवीं सदी'। उन्हें पढ़-पढ़ कर रिसालों से मेरा जुड़ाव हुआ। बाद में ख़वातीन का रिसाला 'बानो' और बच्चों का रिसाला 'खिलौना' भी जुड़ गए। उन्हें पढ़ते हुए मैंने लड़कपन से जवानी में क़दम रखा।

धार्मिक व इतिहास पुस्तकों में यूं भी मेरी दिलचस्पी कम थी। समझ में भी कम आती थीं। गाहे-ब-गाहे देख ज़रूर लेता था। उन दिनों दीन व मज़हब का ज़ब्बा हावी था, इसलिए उन किताबों की वरक-गर्दानी से ईमान ताज़ा हो जाता था। वालिद साहब से कई लोग किताबें मांगकर ले जाते थे। बाद में ढूंढने पर नहीं मिलती थीं, इसलिए वो मुझसे अपनी किताबों की फ़ेहरिस्त लिखवाते थे। बहारे-शरीअत, हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की हुकूमत और उसका ज़वाल, कससुल-अम्बिया, अंग्रेज़ों का दौर-ए-हुकूमत, सीरते-रसूल (हज़रत मुहम्मद स.व. की जीवनी) सहाबा-किराम वगैरह उनके नाम हुआ करते थे। मोतियाबिन्द उतर आया, तब तक वालिद साहब ने पढ़ना तर्क नहीं किया। आतशी शीशा लेकर नागार्जुन की तरह पढ़ते रहते थे। मैं उनसे कोई किताब लेता और बोर होने व सर दुखने पर फ़ौरन ही लौटा देता था। एक बार मैं कुर्आन शरीफ़ के

दूसरे पारे की मोटी व्याख्या लेकर आया था, जो आज तक अनपढ़ी मेरे पास रखी है। कुछ ही पृष्ठ पढ़ पाया था। कभी इत्मीनान से पढ़ेंगे, यह भाव पहले भी रहा, आज भी है। कोई तीस बरस पहले सोल्झेनित्सन का 'कैंसर वार्ड' दो जिल्दों में उर्दू पब्लिशर से मंगवाए थे। 50-60 पेज पढ़ने के बाद घबरा गया और वो दोनों जिल्दें आज भी अनछुई पड़ी हैं। नब्बे के दशक में मुझे शाइरी की शौक चरया था। एक नामी शाइर व नक़्क़ाद के मश्वरे पर मिर्ज़ा अनीस के मर्सिये मंगवाए थे, जो दो जिल्दों में थे। उनका फुर्सत में पारायण करता था। पता चला, किस तरह मिस्त्रे' ढाले जाते हैं, लफ़्ज़ों, मुहावरों, ज़बान का सही इस्तेमाल, माहौल की तस्वीरकशी, गरज़ कि बहुत सारी खूबियां उन मर्सियों में थीं और मैं उनसे फ़ैज़याब हो सकता था। मगर एक दिन मैं उन मर्सियों से महरूम हो गया। एक शाइर साहब आए। मर्सिये देखकर उनका जी ललचाया—'अरे! तुम तो कहानीकार हो। तुम्हारा शाइरी से क्या काम? मुझे दो, पढ़कर लौटा दूंगा।' आप जानते हैं, किताबें

लौटने के लिए नहीं जातीं। एक बार हाथ से गई, तो फिर गई। पढ़ने वाले के दिल पर अलग-अलग वक्तों में अलग-अलग लेखक/ कवि छाए रहते हैं। एक वक्त था, जब निर्मल वर्मा मेरे प्रिय लेखक थे। उनकी 'लालटीन की छत' हमेशा मेरी मेज़ पर रखी होती थी। बड़े चाव से 'कव्ये और

काला पानी' खरीद कर लाया था। एक साहब ले गए, अब कहते हैं, नहीं ले गए। इसका मुझे अफ़सोस भी नहीं है, क्योंकि निर्मल वर्मा का जादू अब मुझ पर नहीं चढ़ता।

मुआफ़ कीजिए, मैं कुछ आगे निकल आया हूँ। बात मेरे लड़कपन की चल रही थी। हमारे दोनों बड़े भाई भी कुछ-न-कुछ पढ़ते रहते थे। खासतौर से जासूसी उपन्यास। शायद किराए पर लाते थे, इसीलिए कुछ दिनों तक

घर में दिखाई देते थे, फिर नहीं। कभी-कभी मेरे हाथ भी लग जाते थे। इन्हे सफ़ी और अकरम इलाहाबादी से मैं तभी वाकिफ़ हुआ था। कभी-कभी कुछ रोमांटिक व अश्लील चीज़ें भी अलमारियों में धूल खाती नज़र आ जाती थीं। बदनाम कानपुरी जैसे लेखकों के नाम हुआ करते थे। फोटोग्राफ़र और नॉवेल निगार सिराज अनवर के नॉवेल 'नीली झील' वगैरह मैंने रिसालों में किस्तवार पढ़े थे। इसी तरह कृश्नचंद्र का नॉवेल 'उल्टा दरख़्त', 'एक गधे की सरगुज़िशत', 'एक गधे की वापसी' वगैरह किस्तों में पढ़ने को मिले। उर्दू में कृश्नचंद्र मेरे सर्वप्रिय लेखक थे। उनकी रचनाएं ढूँढ़-ढूँढ़ कर पढ़ता था। एक अजब-सा सुरूर छा जाता। मैंने तब उन्हें खत भी लिखा था कि मेरी भी लेखन में रुचि है। उनका हतोत्साही जवाब आया था कि अदब का मैदान बड़ा कांटोंभरा है। ज़रा सोच-समझ कर क़दम रखना।

दरअस्तल शुरु से मेरा ज़्यादातर वक्त पत्र-पत्रिकाएं खाती रही हैं। मेरी हसरत ही



रही कि मैं सलीके से पढ़ूँ और खासतौर से वो किताबें ज़रूर पढ़ूँ जिनकी उर्दू व हिंदी में बहुत चर्चा है। लगता है, यह हसरत, हसरत ही रहेगी। उम्र के इस आखिरी पड़ाव में आंखों पर ज़्यादा जुल्म भी करना नहीं चाहता। शुरु से निराशावादी रहा हूँ, इसलिए हमेशा यही सोच रही कि बहुत कुछ पढ़ने से भी क्या हासिल? मुझे कौन-सी विद्वता दिखानी है। लोग जब अपने अध्ययन का पाठ पढ़ते हैं, तो

मैं ख़ौफ़ज़दा हो जाता हूँ! हाय। मैंने तो कुछ नहीं पढ़ा। लोग मुझे संजाल से जुड़ने का मश्वरा देते हैं और मैं मुद्रित अंवार से ही दहशतज़दा हूँ।

पुस्तकें कभी मेरी प्राथमिकता में नहीं रहीं। आज जबकि मुझमें सामर्थ्य है और ललक भी, मैं बचे हुए वक्त का सही इस्तेमाल करना चाहता हूँ, तो मेरे दोस्त महापढ़ाकू डॉ. सत्यनारायण आड़े आ जाते हैं। कहता हूँ, फ़लां किताब लाया हूँ या खरीदने का इरादा है, तो कहते हैं—क्यों लाए या क्यों लाते हो? मेरे पास है ना! इस तरह मनोवांछित किताबों की खरीद आज भी टलती जा रही है। मैं जब मांगकर नहीं खाता, तब मांगकर पढ़ना भी नहीं चाहता। इसके बावजूद जब-तब कोई चर्चित किताब वो अपने आप मुझे दे देते हैं, मैं पढ़ लेता हूँ। उधार मिली हुई किताब पढ़ने में मज़ा नहीं आता। जल्दी लौटाने की फ़िक्र में दूसरे ज़रूरी काम इल्लवामें चले जाते हैं। 'शेष' पत्रिका निकालने की वजह से मेरे यहां किताबों की यल्गार हो गई थी। अपने

दस-बाई-बारह के एकमात्र कमरे में क्या-क्या रखूं? यों भी समीक्षा के लिए मिलने वाली ज़्यादातर किताबें फ़जूल होती हैं। चंद मजबूरियों के चलते, मैंने तमाम प्रकाशकों को कह रखा है कि वे समीक्षार्थ पुस्तकें न भेजा करें। या भेजें तो केवल एक प्रति। इसी वजह से कई बार समीक्षकों को पुस्तकें देने पर मैं खुद पढ़ने से महरूम रह जाता हूँ। नामवरसिंह द्वारा संपादित मलयज की डायरियां हाथ से निकल जाने का बड़ा अफ़सोस है।

कई बार मैं समीक्षकों के आग्रह पर भी पुस्तकें मंगवा लेता हूँ। इसके बावजूद समीक्षाएं नहीं मिलतीं। एक मित्र समीक्षक के आग्रह पर जां रासिएर की भारी व महंगी पुस्तक 'सर्वहारा रातें' (अनु. अभय कुमार दुबे) प्रकाशक से मंगवाई। मित्र समीक्षा लिखना टाल गए। दरभंगा के युवा कवि मनोज कुमार झा ने उसमें दिलचस्पी दिखाई। मैंने समीक्षा की शर्त

रखी, जो मान ली गई। लेकिन तीन बरस तक झूठे वादे करने के बावजूद किताब लौटा दी गई। इस तरह मेरे ज़मीर पर एक बोझ-सा बन जाता है और इसीलिए मैं समीक्षार्थ पुस्तकों से बचता हूँ। नई पुस्तकों के स्पेस के लिए मैंने पुरानी किताबें शहर की प्रमुख लाइब्रेरी को तोहफ़तन देने की योजना बनाई, लेकिन लाइब्रेरी के कर्मचारी इस क़दर ग़ैर-ज़िम्मेदार निकले कि बंडल खोलना भी गवारा नहीं किया। अलमारियों में लगाना तो बड़ी बात है। एक बार मैं पुरानी किताबें बेचने कबाड़ी बाज़ार गया, तो कोई ख़रीददार न मिला। एक दुकानदार ने तोल के मोल लेना चाहा, तो मैंने इंकार करते हुए काउंटर पर खड़े एक विश्वविद्यालयी छात्र को पकड़ा दी। यह सूते-हाल है।

बिलाड़ा में लाइब्रेरी में वक़्त गुज़ारने के बावजूद मैंने लाइब्रेरी का उपयोग नहीं किया, इसका यह भी मतलब नहीं कि किताबों से मेरा नाता नहीं रहा। सातवें दशक में जबकि मैं बच्चों के लिए लिखा करता था। हिंद पॉकेट बुक्स का मेंबर बना और कृश्नचंदर, राजेंद्र सिंह बेदी, ख़्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुग़ताई, आदिल रशीद वगैरह की पेपरबैक किताबें मेरी स्टडी में आ गई। हिंदो-पाक के मशहूर डाइजेस्ट भी तब मेरे मुतालए में रहते थे। पाकिस्तान का एक लोकप्रिय धारावाही उपन्यास 'देवता' तो अद्भुत था। कई वैज्ञानिक एवं पारलौकिक विषयों को समेटता कई हज़ार पृष्ठों का वह उपन्यास शायद आज भी जारी है। सातवें-आठवें दशक में शमा बुक डिपो, दिल्ली से सलामत अली मेंहदी के बड़े दिलचस्प तारीख़ी नॉवेल मंगाया करता था। वे सब उधार ले जाने वालों ने खुदबुर्द कर दिए। राजकमल प्रकाशन की घरेलू लाइब्रेरी योजना का सदस्य बना, तो नागार्जुन, कृष्णा सोबती, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, भीष्म साहनी, अमरकांत, रेणु, निर्मल वर्मा, ज्ञानरंजन, मुक्तिबोध के साथ-साथ कई देशी-विदेशी लेखकों की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। कई बार शहर में सोवियत संघ में प्रकाशित सस्ती, परंतु मूल्यवान पुस्तकों की प्रदर्शनी लगती थी। टॉलस्टाय का युद्ध और शांति, अन्ना कारेनीना, कज़़ाक, दोस्तोयवस्की का अपराध और दंड, बौडम (इडियट) गोगोल की कहानियां और उपन्यास, चेख़व की कहानियां, मैक्सिम गोर्की की 'मां' और ऐसी

ही कुछ किताबें तभी ख़रीदी गई थीं।

पुस्तकें गिनवाना मेरा मक्सद नहीं। न मेरे पास ऐसी मूल्यवान पुस्तकें हैं जिनके नाम पढ़कर पाठक चौंके। मेरा मानना है कि लिखने-पढ़ने से ताल्लुक़ रखने वाले शख्स को अध्ययन जारी रखना चाहिए जब तक कि आंखें सलामत हों और जहां तक हो सके, अप-डेट रहना चाहिए, किताबों की दुनिया एक बहता दरिया है, उसमें डुबकी लगाते रहना होगा। किनारे खड़े होने से काम नहीं चलता। अगर कोई ठान ले कि उसे तमाम पुरस्कृत नोबेल साहित्यकारों का साहित्य पढ़ना है, तो उसके लिए एक उम्र काफी न होगी और यह भी सच है कि हर नोबेल साहित्यकार का सब कुछ नोबेल नहीं होता, इसलिए पाठक को चूज़ी होना पड़ता है और वे होते भी हैं और हर पाठक की एक सीमा होती है।

मैं लाख अपढ़ सही, पर कोशिश यही रहती है कि चर्चित पुस्तकें ज़रूर मेरी नज़र से गुज़रें, कुर्रतुल ऐन हैदर का उपन्यास 'आग का दरिया', शौकत सिद्धीकी का 'खुदा की बस्ती' और अब्दुल्लाह हुसैन का 'उदास नस्लें' बहुत देर से मेरे हाथ लगे। कराची पाकिस्तान के मनोचिकित्सक डॉ. हसन मंज़र मेरे पुराने करमफ़र्मा हैं। वो गाहे-बगाहे अपनी किताबें मुझे इनायत करते रहते हैं। उनके उपन्यास 'अल-आसिफ़ा' और 'नबीबख़्श के बेटे' के इलावा अफ़सानों व नॉवेलों की किताबें मुझे दस्तयाब हुईं। नासिरा शर्माजी भी अपने उपन्यास भेजकर मुझे उपकृत करती रहती हैं। हरेक किताब का ज़िक्र ज़रूरी है, न मुनासिब, न मुमकिन।

कराची में रहने वाले हमारे बड़े चाचा उमरदीन साहब को भी पढ़ने का बड़ा शौक है। वे जब भी भारत आते हैं, मेरे लिए किताबों की सौगात लाते हैं। इब्ने इंशा के सफ़रनामों की कई जिल्दें और नज़्मों का संग्रह उन्हीं की बदौलत मेरे पास हैं। और भी कई किताबें हैं। नौकरशाह कुदरतुल्लाह शहाब के 'शहाबनामा' का मैंने बड़ा ज़िक्र सुना था। वो भी मेरी दरखास्त पर ख़ासतौर पर लाए। सफ़र में हर वक़्त उनके पास अल्लामा इक़बाल की कोई-न-कोई किताब ज़रूर रहती है और एक मैं बदनसीब हूँ कि अल्लामा इक़बाल पर निकला 'शाइर' का हज़ार पेज का ख़ास शुमारा शुरूआती टटोला-टटोली के बाद यूँ ही रखा

हुआ है। जाने क्यों शाइरी की तरफ़ मेरा रुज़्हान नहीं होता। मीर, ग़ालिब, हाली, फ़िराक़, फ़ैज़, साहिर लुधियानवी सब मेरी तवज्जोह चाहते हैं और मैं गद्य की तरफ़ भागता हूँ। उर्दू के बड़े आलोचक, शाइर व अफ़सानानिगार का ज़ख़ीम नॉवेल 'कई चांद थे सरे-आस्मां' अब तो हिंदी में भी आ चुका है और खूब सराहा गया है। कई बार जी चाहा कि मंगवाऊं, मगर उसकी चंद किस्तें फ़ारूकी साहिब के रिसाले 'शबखून' में पढ़ रखी थीं। इसलिए दोहराव से बेज़ारी के कारण, इरादे को अमली जामा न पहना सका। जाने कैसे लोग एक ही किताब को बार-बार पढ़ लेते हैं!

'इब्ने बबूता का सफ़रनामा' पिछले दिनों बड़ी कोशिशों के बाद हासिल हुआ था। इब्ने बतूता से भी मैं अछूता रहता, अगर हमारे मंज़ले बड़े भाई साहब ने न मांग लिया होता। उन्हें लगता है, इस चुप्पे भाई के पास इतनी किताबें आती हैं और लाता भी रहता है, तो ज़रूर इसके पास होगी। उन्हें क्या पता कि अंदर पोलमपोल है।

एक बार हमारे साहित्य प्रेमी जज साहिब अचानक मेरी कुटिया में लेखक को उसके हाल में देखने के लिए चले आए। उनको बड़ी निराशा हुई। कहने लगे, इतने छोटे-से बंद-बंद कमरे में क्या तुम्हारा जी नहीं घुटता? और तुम्हारे पास इतनी कम रेफ़रेंस बुक्स हैं। फ़लां के पास तो बड़ा ज़ख़ीरा है। कैसे लेखक हो भई तुम? ऊपर से पत्रिका भी निकालते हो, ताज़्जुब है। लोग तो पता नहीं तुम्हें क्या समझते हैं!

ताज़्जुब तो मुझे भी है जब मेरे पास सामान कुछ नहीं, तो मैं अदब की दुनिया में बेअदबों का क्या काम? एक बार हरियाणा सरकार के रिटायर्ड आई.ए.एस. ऑफ़िसर व शाइर जनाब टी. एन.राज़ साहिब का फोन आया कि 'शेष' के दफ़्तर किस वक़्त पहुंचोगे, मुझे आपकी पत्रिका के फोंट नंबर मालूम करने हैं। मैंने बताया कि 'शेष' का दफ़्तर तो मेरे मेज़ का 2x3 हिस्सा है जिस पर बमुश्किल टाइप राइटर रख पाता हूँ, तो सुनकर वो बड़े हंसे, जबकि मुझे अपनी इस हालते-ज़ार पर रोना आया।

पन्ना निवास, लोहारपुरा, जोधपुर-342001, मो. 9829314018

प्रतिरूप : गरीबी के सामाजिक जीवन का इतिहास

रामशंकर द्विवेदी

दो

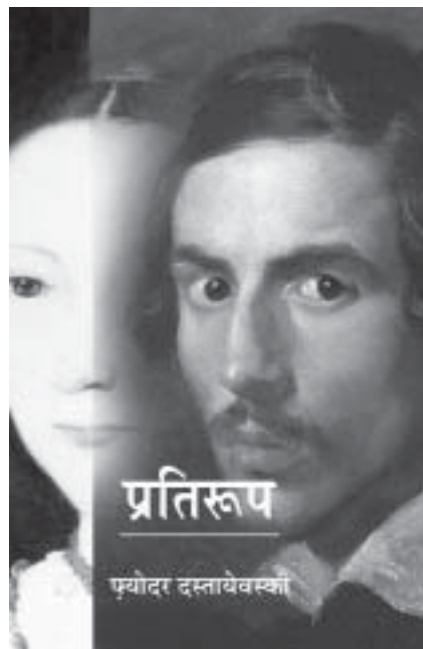
स्तोवस्की की 'अपराध और दण्ड' विश्वविख्यात कृति है। इसकी तमाम रचनाओं में पात्रों के अन्तर्द्वंद्व और मनोविज्ञान का बड़ा तीखा और सजीव चित्रण है। उसकी प्रारंभिक रचनाओं में भी यही बात लक्षित की जा सकती है। वह अपनी छोटी-से-छोटी रचना पर बेहद मेहनत करता था। अब उसके इसी उपन्यास 'प्रतिरूप' को लीजिए। यह उसकी प्रारंभिक कृति है। पर उसने इसे कई बार लिखा और इसे पूर्ण रूप देने का प्रयास किया। दोस्तोवस्की ने अपना यह लघु उपन्यास 1845 में लिखना शुरू किया था। बीच में ही उसे रोक देना पड़ा। सितंबर में फिर दोबारा लिखना शुरू किया और सारी पतझड़ और सर्दी के शुरू होने तक इस लघु उपन्यास पर उसका काम चलता रहा। तब आलोचकों ने इसे ज्यादा पसंद नहीं किया और उसने इसे दोबारा लिखा और 1866 में इसे फिर छपाया। यह अनुवाद उसके इसी संस्करण पर आधारित है।

दोस्तोवस्की का यह उपन्यास 'गरीब लोग' की तरह गोगल के उस रचना-संसार के करीब है जिसमें वह पीटसबर्ग के सामाजिक जीवन पर अथवा कहा जाए कि रूसी इतिहास में पीटसबर्ग को अपनी रचनाओं का केंद्र बनाता है।

इस उपन्यास का नायक मिस्टर गल्यादकिन उन अतिसंवेदनशील और पागलों में से एक है जो हमारे समाज में अक्सर निचले और मध्यम वर्ग में पाए जाते हैं। उसे हमेशा लगता है कि सब उसे शब्दों से, देखने के तरीके से और अपने हाव-भाव से उसकी बेइज्जती करते हैं। उसे हमेशा लगता है सब उसके खिलाफ कोई षड्यंत्र रच रहे हैं। सब

उसे नुकसान पहुंचा रहे हैं। वह न तो अपनी आर्थिक स्थिति से, न पद से, न नौकरी से, न अकल से, न ही अपनी काबलियत से किसी में अपने प्रति ईर्ष्या पैदा नहीं कर सकता। वह न तो समझदार है, न ही बेवकूफ, न तो रईस है न ही गरीब, बहुत ही नेक और भला है और चाहे तो आराम से अपनी जिंदगी गुजार सकता है, पर उसका अतिसंवेदनशील और शक्की मिजाज उसकी जिंदगी को नरक बना देता है।

भूमिका में लिखे अनुवादक के ये शब्द मिस्टर गल्यादकिन के पूरे चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। इस उपन्यास की सारी घटनाएं बाहर नहीं नायक के अन्दर घटती हैं। उसे सदा लगता रहता है कि आसपास के लोग उसका उपहास कर रहे हैं, और यह शक होते ही वह मूर्खतापूर्ण हरकतें करता है। उसे लगता है कि ठीक उसका प्रतिरूप कोई हमशक्ल उसके पहुंचने के पहले ही वह सारे काम



सलीके से कर डालता है जिसे करने के लिए वह प्रतिश्रुत था। लोग अब उसे नहीं, उसके प्रतिरूप को ज्यादा महत्त्व देते हैं। वह अपने प्रतिरूप से मिलना चाहता है लेकिन उससे मिलने के पहले ही वह खिसक लेता है। लोगों से उसे पता चलता है कि उसका वास्तविक प्रतिरूप यह काम पहले ही कर चुका है। कभी-कभी लोग यहां तक मानने लगते हैं कि सच्चा गल्यादकिन उसका प्रतिरूप है और वह एक मुखौटा लगाए है। वह इसी अंतर्द्वंद्व में यह उपन्यास आगे बढ़ता जाता है और पाठकों को एक अनिश्चय में डालकर समाप्त हो जाता है। आगे चलकर दोस्तोवस्की के उपन्यासों की जिस प्रौढ़ विश्लेषण शैली को हम लक्षित करते हैं उसका सूत्रपात प्रतिरूप जैसे लघु उपन्यास में मिलता है।

इस उपन्यास के साथ उसके दो उपन्यास और जुड़े हुए हैं। एक उपन्यास है 'नौ खतों में' और दूसरा है 'घर मालकिन'। इन दोनों उपन्यासों को लंबी कहानी कहना बेहतर होगा। एक उपन्यास 'नौ खतों में' एक प्रेम कहानी है जिसमें एक प्रेमी अपने प्रेम को स्वीकार करता है। यह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति में ईर्ष्या के उस स्तर तक पहुंच जाता है कि अपने सफल प्रतिद्वंद्वी द्वारा द्वंद्व युद्ध में मारा जाता है। दोस्तोवस्की इसी विधा के द्वारा दो धोखेबाजों के पत्र-व्यवहार को पाठकों के सामने लाता है। साथ ही यह कहानी पीटसबर्ग की सामाजिक संरचना को सामने लाती है। इस उपन्यास की कहानी का अंत बड़ा ही त्रैजिक है। यह ट्रेजिडी उस छली गई लड़की के जीवन से उभरती है जो इस प्रेम के केंद्र में थी। 'प्रतिरूप' उपन्यास के साथ संकलित अपने तीसरे लघु उपन्यास में लेखक फिर गरीब लोगों को केंद्र बनाकर पीटसबर्ग के सामाजिक



जीवन में लौट आता है। एक गरीब आदमी किराये के नए घर में रहने जाता है, घर मालकिन से उसके रिश्ते, चौकीदार और पुलिस से उसके संबंध आदि को केंद्र बनाकर लेखक पहली बार एक क्लर्क के जीवन पर प्रकाश डालता है। इस उपन्यास की विशेषता क्या है कि दोस्तोवस्की जमीनी हकीकत की बजाय एक सपने देखने वाले, कल्पनाजीवी पात्र को अपने उपन्यास के केंद्र में खड़ा करता है। दरअसल 1840 के आसपास रूस में जिस अटोपियायी समाजवाद का सपना देखा जाता था इस उपन्यास में उसी का प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है।

इन उपन्यासों के अनुवाद के बारे में योगेश भटनागर (जो इसके अनुवादक हैं) का कहना है कि इनका मुख्य उद्देश्य पाठक को दोस्तोवस्की के प्रारंभिक रचना-संसार और इस महान उपन्यासकार की रचना-प्रक्रिया से परिचित कराना और साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को बढ़ावा देना है। इन रचनाओं के अनुवाद की एक विशेषता और है—इनका अनुवाद हिंदी में सीधे रूसी भाषा से किया गया है।

प्रतिरूप/प्योदर दोस्तोवस्की/अनु. योगेश भटनागर/शुभदा प्रकाशन, 1/1152ए, सुभाष पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 300

1260, नया रामनगर, उरई (उ.प्र.), 285001, मो. 09839617349

उपन्यास

कथा के बहाने विचार-बिन्दु

प्रीति सागर

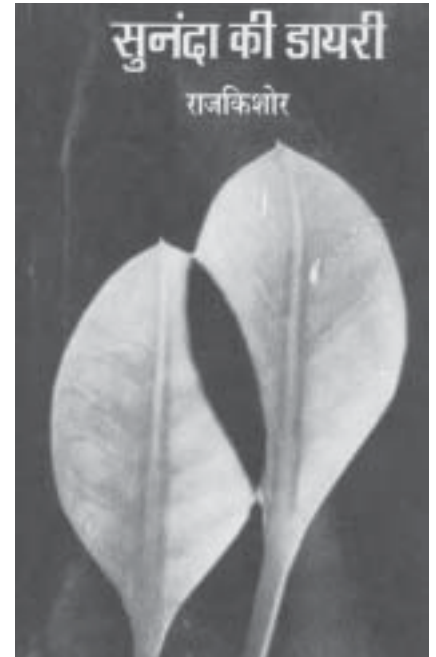
‘आ

ज के प्रश्न’ जैसी बहुचर्चित पुस्तक शृंखला के संपादक श्री राजकिशोर की नवीन कृति ‘सुनंदा की डायरी’ को पुस्तक के बाहरी आवरण पर ‘औपन्यासिक परिवेश में जीवन और जगत के कुछ बुनियादी प्रश्नों पर खुली और विचारोत्तेजक बातचीत’ करार दिया गया है। सुमित और सुनंदा इन दो पात्रों के माध्यम से बीस समसामयिक मुद्दों पर रोचक ढंग से विचार-विमर्श रखा गया है।

पुस्तक का शीर्षक एवं भूमिका में लेखकीय वक्तव्य इसे डायरी घोषित करते हैं लेकिन यह पुस्तक कई विधाओं का रोचक मिश्रण है। इसमें कथा का रस भी है और संस्मरण का साहचर्य भी, डायरी का निजीपन भी, निबंधों की वैचारिकता भी और व्यंग्य का चुटीलापन भी। वस्तुतः इस कल्पनाजनित डायरी में आग्रह दैनिकता पर नहीं वरन् वैचारिकता पर है और विमर्श बिंदु ही महत्त्वपूर्ण हैं। लेखक ने ‘सुनंदा की डायरी’ की प्रस्तावना में भरसक यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की है कि वह सुनंदा और सुमित के विचारों को पाठकों तक पहुंचाने का निमित्त मात्र है। उसका कहना है कि यह डायरी उसे नैनीताल के गेस्ट हाउस के कमरे में कपड़े रखने की अलमारी के सबसे नीचे वाले खंड में दुबकी हुई मिली। बिना कोई तारीखी उल्लेख वाली इस डायरी में निहायत खूबसूरत अक्षरों में सवाल हरे रंग में और जवाब नीले रंग में अंकित थे। इस डायरी से ही लेखक को यह ज्ञात हुआ कि सुमित और सुनंदा इसी गेस्ट हाउस में मिले, प्रारंभिक परिचय अंतरंग हुआ और उन्होंने विभिन्न विषयों पर बातचीत की। प्रायः इसमें सुनंदा के प्रश्न और सुमित के उत्तर हैं लेकिन बीच-बीच में सुनंदा के दृष्टिकोण

को भी व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत किया गया है। लेखक का दावा है कि उसने उन दोनों को खोजने की बहुत कोशिश की पर असफल रहा और सुनंदा की व्यक्तिगत सम्पत्ति को सार्वजनिक करने का उद्देश्य अर्थात् डायरी का प्रकाशन इसलिए करवाया जा रहा है ताकि उनका कोई सुराग मिल सके। सुमित और सुनंदा के माध्यम से अपने ही विचारों को रखते हुए भी लेखक ने बहुत चालाकी से यह वक्तव्य दिया है कि—“मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस बातचीत में कही बातों से मैं काफी हद तक सहमत हूँ, पर हर बात से इत्तफाक नहीं रखता।” (प्रस्तावना, पृ. 8) वस्तुतः यह स्पष्टीकरण पुस्तक में उठाए गए मुद्दों पर पाठकों को सोच-विचार करने के लिए खुला आमंत्रण है।

‘सुनंदा की डायरी’ की शुरुआत सुनंदा के सुमित से परिचय के विवरण के साथ होती



है। पुस्तक के पहले ही पैराग्राफ में सुनंदा के लेखन से पाठक को यह आभास मिल जाता है कि वह सुमित की तरफ आकर्षित है। स्वयं को समझदार और स्वतंत्रचेता मानने वाली सुनंदा ने सुमित के संपर्क में आने के बाद खुद को हारा हुआ अनुभव किया। उसके विचार से स्त्री-पुरुष का प्रेम दुतरफा होता है और “जब कोई स्त्री किसी पुरुष के पीछे दीवानी होती है, तो वह अपना सर्वस्व उलीच देना चाहती है। उसका अपना कोई स्व नहीं रह जाता।” (पृ. 11) सुमित के साथ उसके परिचय का विवरण पढ़ते हुए स्पष्ट होता है कि सुमित के व्यवहार ने सुनंदा को प्रभावित किया और सुनंदा ने ही सुमित का साथ पाने की पहल की। तीसरी मुलाकात में सुमित के बारे में सुनंदा इतना ही जान पाई कि वह कोई काम नहीं करता, घूमने, किताबें पढ़ने और संगीत सुनने का शौकीन है लेकिन इस मुलाकात में कई बातों पर सुमित के दृष्टिकोण और विश्लेषण से सुनंदा प्रभावित हुई और जल्द ही उन्होंने कुछ विषयों पर सिलसिलेवार ढंग से बातचीत करने का निर्णय लिया। दो सौ आठ पृष्ठों में व्यवस्थित तैंतीस अध्यायों में से बीस अध्यायों में विचार के मुद्दे हैं। बीच में चार ‘अंतराल’ हैं (पुस्तक की अनुसूची में तीन ही अंकित हैं।) तथा चार पृष्ठों पर ‘सुमित की डायरी’ से कुछ अंश उद्धृत हैं। लेखक की पाद-टिप्पणी के अनुसार ये अंश सुनंदा ने सुमित की डायरी से नोट किए हैं। सुमित की डायरी के ये अंश सुमित के व्यक्तित्व की गढ़न को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। ‘मुलाकात’, ‘अंतराल’, ‘रास्ता’, ‘समापन’ और ‘प्रस्थान’ शीर्षकों के अन्तर्गत आई कथा सुमित और सुनंदा के आपसी संबंधों पर केंद्रित है। अक्खड़ किस्म का सुमित और एक बार पुरुष से धोखा खा चुकी सुनंदा परस्पर अंतरंग होते जाते हैं और अंततः सुनंदा एक बार फिर पुरुष-छल का शिकार होती है। सुनंदा पढ़ी-लिखी युवती है लेकिन विचार के स्तर पर एक तरह की बेचैनी की शिकार है। उसके नैनीताल आने का मकसद घूमना और खाली समय बिताना था लेकिन सुमित के साथ हुए परिचय ने उसके जीवन को एक दूसरी दिशा में मोड़ दिया। सुनंदा ने सुमित के तर्कों को आंख मूंदकर स्वीकार नहीं किया, कहीं-कहीं विरोध करते हुए अपना मत भी रखा है। हर

एक मुद्दे पर बात करते हुए एक निष्कर्ष तक पहुंचने की चेष्टा की गई है जैसे गुरु के संबंध में बात करते हुए सुमित कहता है, “किसी को गुरु नहीं बनाना चाहिए पर हर व्यक्ति को शिष्य बनाना चाहिए।” (पृ. 23) सुमित की सीख है कि “मेरी किसी बात को बहस के बिना स्वीकार मत करना।” (पृ. 25) पहले ही विषय पर की गई बातचीत सुनंदा को उमंग से भर देती है। वह अपना नैनीताल आना सार्थक महसूस करने लगती है।

ईश्वर के अस्तित्व पर विचार करते हुए सुमित और सुनंदा किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते।

विश्व सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ का बेहतर विकल्प बताने के साथ सुमित लोकतंत्र को छोटे समुदायों के लिए उपयुक्त बताता है। ‘स्त्री’ अध्याय में सुमित और सुनंदा स्त्री की स्थिति, पश्चिमी और भारतीय नारीवाद तथा भारतीय नारीवाद की कमियों पर बात करते हुए नारीवाद के सही एजेंडा को खोजने की कोशिश करते हैं। स्त्री को अपने अधीन रखने का खामियाजा पुरुष भी भुगत रहा है, यह तर्क प्रस्तुत करते हुए सुमित का कहना है कि “स्त्री को व्यक्तित्वहीन बनाकर उसने अपना भी सर्वनाश कर लिया। जब आप दूसरे का दमन करते हैं, तो उसके साथ-साथ अपना भी एक हिस्सा दमित हो जाता है।” (पृ. 136)

‘शिक्षा’ शीर्षक अध्याय में भारत में शिक्षा के निजीकरण के खतरे, वर्गीय आधार पर निर्मित शिक्षागत ढांचा, शिक्षा में अंग्रेजी भाषा की अनिवार्यता, जनभाषाओं की उपेक्षा, नैतिक शिक्षा आदि पर बात करते हुए सुमित का मानना है कि “भारत का शिक्षित वर्ग ही भारत को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचा रहा है। हमारे देश में शिक्षा भी शोषण का हथियार बन गई है। बेहतर होता कि पूरा देश निरक्षर होता।” (पृ. 176) नक्सलवादियों की हिंसा के पीछे सुमित उनके द्वारा मार्क्सवाद को गलत ढंग से पढ़ने से पैदा हुई विचारधारा या समझ को दोषी मानता है। तृतीय ‘अंतराल’ तक आते-आते सुनंदा एक सुनहरे सपने की गिरफ्त में कैद है। सुमित के प्रेम में डूबी सुनंदा अनुभव करती है कि सुमित भी उसके प्रति आकर्षित है। सुनंदा तो इस संबंध को कोई नाम देने की दिशा में भी सोचने लगी है,

पर कैसे यही चिंता का कारण है। अभी तो दोनों परस्पर सब कुछ अनुभव करते हुए भी प्रत्यक्षतः यह रहस्य गोपन बनाए हैं।

‘साहित्य’ शीर्षक अध्याय में साहित्य को जीवन और जगत के बारे में समझ बढ़ाने वाला कहकर सभी को साहित्य पढ़ने की वकालत की गई है। अधिकांश मुद्दों के संबंध में सुमित सुनंदा के सामने विषय को व्यापक फलक पर प्रस्तुत करता है। उसके सभी पहलुओं से अवगत कराता है लेकिन कहीं-कहीं सुमित का मत चौंकाता और विचार करने के लिए विवश करता है जो प्रकारांतर से लेखक का ही मत है जैसे ‘गुरु’ विषय पर बात करते हुए सुमित गांधीजी पर यह आरोप लगाता है कि ‘गांधीजी ने अपने शिष्यों को अपनी स्वतंत्र विचार शक्ति विकसित करने की प्रेरणा कभी नहीं दी।’ (पृ. 22) शिक्षा पर बात करते हुए सुमित सर्वशिक्षा के लिए अनूठा तर्क देता है, “मैं तो चाहता हूँ कि तीन साल तक सारे कॉलेज और विश्वविद्यालय बंद कर दिए जाएं और प्रोफेसर्स को प्राथमिक शिक्षा फैलाने में लगा दिया जाए। तीन साल तक बी.ए., एम. ए. न निकलें तो आसमान टूटकर गिरने वाला नहीं है।” (पृ. 170) इसी तरह मांसाहार को हिंसा का रूप मानते हुए सुमित का कहना है कि “हत्या करने को व्यावसायिक रूप दे दिया गया है, ताकि कुछ लोग छुरा चलाते रहें और बाकी लोग स्वाद लेते रहें। यह एक निष्ठुर श्रम विभाजन है।...ऐसे व्यक्तियों से कहा जाए कि अब बाज़ार में सूअर का कटा-कटाया मांस नहीं मिलेगा—जिसको खाना है, वह खुद सूअर को मारे और उसका मांस रांधकर खाए तो कितने लोग सूअर का मांस खाएंगे? यही बात मटन, चिकन सभी के बारे में कही जा सकती है।” (पृ. 132) वेश्याओं को कानूनी लाइसेंस देने का विरोध करते हुए सुमित समाज में यौन-प्रशिक्षण देने का तर्क उपस्थित करता है, “मैं एक समूह की बात सोचता हूँ जो लड़के-लड़कियों को यौन प्रशिक्षण दें। इस समूह में स्त्रियां भी होंगी और पुरुष भी। स्त्रियां लड़कों को प्रशिक्षण देंगी और पुरुष लड़कियों को। चाहे तो दोनों ही लड़की-लड़कों को यौन प्रशिक्षण दे सकते हैं।” (पृ. 216) ऐसे सुझाव बहस की मांग करते हैं।

‘रास्ता’ शीर्षक अध्याय में सुनंदा सुमित

तीन विधाओं का सामंजस्य, पर

तनाव भी

राजकुमार सैनी

फि

रदौसी का 'शॉहनामा', बाबर का 'बाबरनामा', कृष्णा सोबती का 'ज़िंदगीनामा' और अब समकालीन कथाकार प्रेमचंद सहजवाला का 'नौकरीनामा'। कथा के शीर्षक पर ध्यान दें 'नौकरीनामा बुद्ध का'। बुद्ध— बुद्ध का अपभ्रष्ट अथवा भ्रष्ट रूप। इतिहास के उस चरण में हिंदुओं ने बुद्ध के शिष्यों को बुद्ध कहा होगा। कालांतर में हिंदुओं ने बौद्धों के प्रति अवमानना अथवा उपेक्षा का इज़हार करते बुद्ध के अर्थ का अपकर्ष कर दिया। प्रेमचंद सहजवाला अपनी कथाकृति के केंद्रीय पात्र को समर्थ और बुद्ध दोनों नामों से पुकारते हैं। यह विरोधाभास व्यंजनात्मक है, व्यंग्यात्मक भी।

यह कथाकृति—आत्मकथा, जीवनी और उपन्यास—तीन विधाओं के त्रिभुज मध्य त्रिशंकु की तरह अटकी या लटकी हुई है। यहां उक्त तीनों विधाओं का सामंजस्य है तो तनाव भी। उपलब्धि तथा सीमा भी। झोल और कसाव भी। सिमटन और बिखराव भी। सामंजस्य के कारण यह गाथा 'सरस' बन पड़ी है तो तनाव के कारण कहीं-कहीं 'नीरस' भी हो गई है; इसीलिए सुकून भी देती है और (पाठक को) बेचैन भी करती है।

स्वतंत्रता-दिवस से लेकर लगभग आज तक के दौरान जन्मी, पली और अर्धेड हो चुकी नौकरशाही—सरकारी नौकरशाही—के तंत्र का पर्दाफाश करती हुई यह कथा इस तथ्य को रेखांकित कर देती है कि देश के इस लोकतंत्र में ऊपर से नीचे तक फैले भ्रष्टाचार में वह आम आदमी भी शामिल है जो कि स्वयं इसका शिकार है। कथा का नरेटर कहता है—

“नौकरशाही के इस तंत्र में ऊपर से नीचे तक फाइल ही फाइल है, प्रोसीजर ही

प्रोसीजर, पर एक 'व्यक्ति' होकर काम करने का कल्चर ही नहीं है यहां, सब-के-सब सिस्टम के पुर्जे हैं बस, काम से कोई रागात्मक लगाव नाम की चीज़ है ही नहीं।”

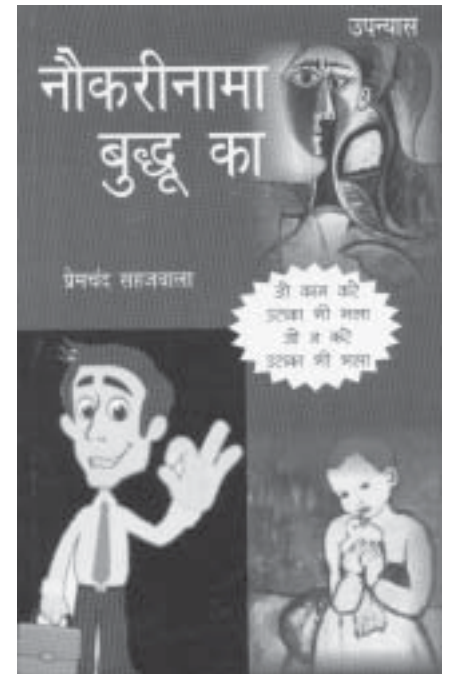
नरेटर का लगभग यह भी कहना है कि जो ए, बी, सी, डी...ज़ेड तक पढ़ा है, एक से दस तक गिनती जानता है, सरकारी दफ्तरों में काम करने के लिए क्वालिफाइड है क्योंकि सरकारी दफ्तरों में क्वालिफिकेशन का कोई महत्त्व ही नहीं है। यहां निकम्मापन है, कुर्सी का नशा है, ओवरटाइम की नींद है। अपराधबोध है, पृथ्वी के दूसरे गोलार्द्ध से विदेशी फरिश्ते हैं, विदेशी फरिश्तों के नकलची, डुप्लीकेट स्वदेशी अफसर हैं, काम से एलर्जी है, दिशाहीन कानून हैं, सिद्धांतप्रिय होने का गरूर है, वेतन-वृद्धियों की मांग है, रूल आफ जंगल है, सब कुछ है पर दफ्तर जैसा कहीं कुछ नहीं है,

से एक ऐसा रास्ता बताने का अनुरोध करती है जो वर्तमान में सही हो। सुनंदा के आग्रह पर उसे कुछ सलाह देता हुआ सुमित मुक्त हृदय और वाणी से अपनी कमियां स्वीकार करता है। इस विचार यात्रा में सुमित भी सुनंदा के प्रति कृतज्ञ है और मानता है कि “सत्य की खोज एक साझा यात्रा है। इसके लिए एक दूसरे की कसौटी बनना ज़रूरी है। अकेला आदमी भटक सकता है। वह अपने ही सोच का शिकार हो सकता है। इससे संवाद ही उसे उबार सकता है। एकालाप ज्ञान का सबसे बड़ा दुश्मन है।” ‘सुनंदा की डायरी’ का समापन सुमित और सुनंदा के बिछोह की पीड़ा से युक्त है। सुमित एक पत्र के माध्यम से सुनंदा के प्रति अपने प्रेम को स्वीकार करते हुए भी उसे अचानक बिना बताए चला जाता है। किसी वाजिब उम्मीद का तिरस्कार करना नैतिक अपराध मानने वाला सुमित सुनंदा को उसकी सारी उम्मीदों और सपनों के साथ अकेला उलझने और बिखरने के लिए छोड़ जाता है। पत्र की अंतिम पंक्ति है, “तुम्हारे लिए क्या कामना करूं? जो भी तुम्हें अच्छा लगे मान लेना कि वही मेरी इच्छा है।” (पृ. 257) क्या सुमित सुनंदा की इच्छा से नावाकिफ था? सुमित का पलायन उसके बौद्धिक विमर्श पर सवाल खड़े करता है। (पृ. 253)

‘प्रस्थान’ ‘सुनंदा की डायरी’ का अंतिम अध्याय है जिसमें सुनंदा ने तीन दिन बाद नैनीताल छोड़ देने का जिक्र किया है। उसके जीवन में सुमित का आगमन एक धूमकेतू की तरह था जो अचानक उगा और अचानक ही अस्त हो गया। सुनंदा ने सुमित के विचारों को दो दिनों में दिन-रात जगकर डायरी में व्यवस्थित किया लेकिन इस डायरी को अपने साथ न ले जाकर उसी कमरे की अलमारी में छुपा दिया ताकि जब ज़रूरत हो, नैनीताल आकर उसी कमरे में ठहरकर सुमित से संवाद हो सके। आखिर राग या प्रेम जीवन को संजोने के लिए ही है, ढोने के लिए नहीं।

सुनंदा की डायरी/राजकिशोर/किताबघर प्रकाशन, 24, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002/मूल्य : 390

संपादक, हिंदीसमयडॉटकॉम, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)





लुब्धो लुबाब यह कि जो होना चाहिए वह नहीं है; जो नहीं होना चाहिए, वह सभी कुछ है। अब आप स्वयं समझ लें कि क्या है और क्या कुछ नहीं है। आदि, इत्यादि।

जैसा कि पहले भी संकेत दिया जा चुका है इस कथा का प्रमुख पात्र बुद्ध—बुद्ध नहीं है। वह विविध सरकारी दफ्तरों में घूमता हुआ आइना है। औसत दर्जे का बुद्धिजीवी, विज्ञान के एक विषय का पोस्ट-ग्रेजुएट, सभ्य नागरिक, परिश्रमी, जागरूक, कुछ-कुछ ईमानदार, कुछ लिखने-पढ़ने वाला, चतुर सुजान नागरिक है। लेखक ने अपने और वाचक के बीच तथा केंद्रीय पात्र समर्थ और अपने बीच कुछ फासला बनाए रखा है। ऐसा करना ज़रूरी भी था। शायद इसीलिए यह कथा मैं—शैली (प्रथम पुरुष) में नहीं लिखी गई।

लेखक ने तंत्र (सिस्टम) की आलोचना की है। दलगत राजनीति से अपने को अलग ही रखा है। सरमायेदारों, इज़ारेदारों, कॉर्पोरेटों आदि की आलोचना से परहेज़ किया है। प्राइवेट उद्यमियों, काल सेंटर कल्चर, उपभोक्तावाद, विज्ञापनवाद आदि की आलोचना से भी स्वयं को बचाया है। सिस्टम हवा में नहीं खड़ा हो जाता। भ्रष्ट पूंजीवादी स्तंभों पर ही समूचा सिस्टम खड़ा है। इस तथ्य को लेखक ने समझने अथवा समझाने की ज़रूरत नहीं समझी। यह लेखक और कृति की सीमा ही कही जाएगी। पत्तों या छोटी-छोटी टहनियों पर कुठार चलाने से तंत्र के वृक्ष नहीं उखड़ते। वे अपनी गहरी और दूर-दूर तक फैली जड़ों से ज़मीन को जकड़े रहते हैं। प्रेमचंद सहजवाला ने अपनी इस कथा में शासक और शोषक वर्ग के निकम्मेपन पर बहुत कम प्रहार किए हैं, उन्होंने प्रायः शोषित और शासित जनता की कमज़ोरियों को ही बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है।

इस कृति में मूल कथा के साथ-साथ अनेक उपकथाएं और अंतर्कथाएं भी नदी के

प्रवाह में बुलबुलों (बुदबुदों) की भांति प्रगट होती हैं और विलीन हो जाती हैं। लेखक द्वारा भोगे हुए यथार्थ के अतिरिक्त जो घटनाएं (उसने) इधर-उधर से सुनी हैं उन सबका भरपूर उपयोग यहां किया गया है।

इस कथा में वर्णित नारी-पात्र हमारे आसपास के निम्न तथा मध्यवर्गीय किरदार हैं। इन नारी चरित्रों में न तो कोई पारो है और न ही कोई चंद्रमुखी! साधारण जीवन जीने वाले साधारण चरित्र जो नारी होने का आभास भर कराते हैं कोई गहरा अहसास नहीं कराते।

यह कथा थोड़ी संक्षिप्त भी होती तो उसकी महत्ता में कोई अंतर न पड़ता। कुल मिलाकर बुद्ध का यह नौकरीनामा इतिवृत्तात्मक है। लेकिन इसे एक दफ्तरी बाबू, (क्लर्क, असिस्टेंट अथवा अफसर) का रोज़नामचा कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। अपनी तरह का यह एक रचनात्मक प्रयास तो है ही। उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने 'मंगलसूत्र' नामक अपने अधूरे उपन्यास की प्रस्तावना में यह कहा था कि हर व्यक्ति अपने जीवन पर आधारित एक उपन्यास लिख सकता है। मुंशी प्रेमचंद ने वैसा उपन्यास अपने जीवन के अंतिम चरण में लिखने का प्रयास किया था लेकिन वह अधूरा रह गया। प्रेमचंद सहजवाला ने वैसा ही प्रयास किया है। वे उग्र के लिहाज़ से साठ से ऊपर हैं। इस उग्र के लेखक के ऐसे प्रयास में प्रौढ़ता और परिपक्वता होनी चाहिए। 'नौकरीनामा बुद्ध का' में परिपक्वता और प्रौढ़ता है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता।

नौकरीनामा बुद्ध का/प्रेमचंद सहजवाला/नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; मूल्य : ₹ 550

122, दिन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लाट नं. 7, द्वारिका, नई दिल्ली-10078, मो. 9818704430

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ 'हिंदीसमयडॉटकॉम' नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत 'हिंदीसमयडॉटकॉम' पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। 'हिंदीसमयडॉटकॉम' में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

गहरे सरोकारों वाली सोद्देश्य कहानियां

रजनी गुप्त

पि

छले लगभग दो दशक से हिंदी कथा साहित्य में विशिष्ट पहचान दर्ज करने वाली जानी-मानी कहानीकार उर्मिला शिरीष की कहानियां अनावश्यक बौद्धिक आतंक से मुक्त अपने समय का जीता-जागता साक्ष्य प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। मौजूदा यथार्थजगत से सीधे मुठभेड़ करती ये कहानियां हमारे आसपास बिखरी विडंबनाओं के खिलाफ तनकर खड़ी हो जाती हैं। कभी वे जड़ हो चुके भ्रष्ट व्यवस्था पर निर्ममता से प्रहार करते हुए व्यवस्था से टकराने का जोखिम उठाती हैं तो कभी असंगत सिस्टम पर सवाल दर सवाल खड़ा करने से नहीं सकुचातीं। इन कहानियों को पढ़ते हुए पाठक के मन में एक गहरी बेचैनी, प्रश्नाकुलता और विचारोत्तेजक अनुभूतियां उत्पन्न होने लगती हैं। स्त्री दुनिया में बरते जा रहे दोहरे मानदंडों के खिलाफ कलम चलाते हुए वे पूरी ताकत से स्त्री शोषण के दबे-कुचले अनगिनत ओट में रह गए पक्षों को उकेरते हुए आम स्त्री की व्यथा-कथा बांचने लगती हैं। संग्रह की कहानियों की एक खास बात है कि इनमें महज स्त्री का अरण्य रुदन मात्र ही नहीं है बल्कि उनकी कहानियों की स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति खासी सतर्क, चौकन्नी और आत्मसजग स्त्रियां हैं तभी तो वे अपने प्रति बरते जा रहे अन्याय या दोहरे रवैए को सह नहीं पातीं फिर चाहे वह उनका नशेड़ी पति ही क्यों न हो। रचनाकार की दृढ़ मान्यता है—‘आखिर उसे भी तो अपनी पसंद के व्यक्ति के साथ जीने का अधिकार है।’

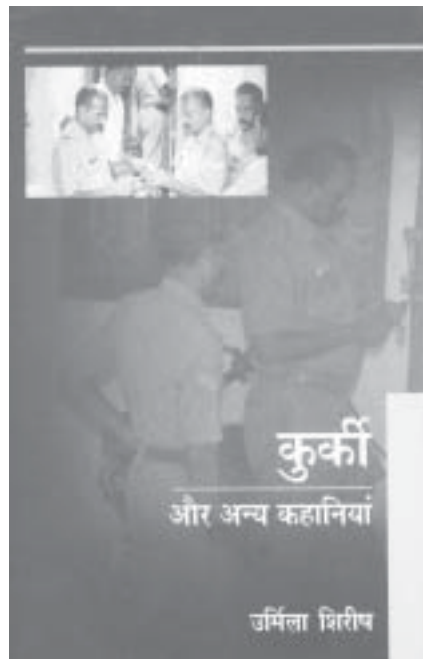
विपरीत हालातों से जुझते आम जन की त्रासदी उभारते हुए कहानीकार ने समाज

में व्याप्त स्त्री पुरुष असमानता से उपजती स्थितियों के प्रति कड़े तेवर अपनाए हैं। यहां लेखिका ने पुलिस, प्रशासन, सामाजिक मान्यताओं व अपराध के बीच गठजोड़ से उपजते घरेलू हिंसा में पिसती आम स्त्री के दोहन किए जाने की बेबसी को मजबूती से शब्द देते हुए समाज का धिनौना चेहरा बेनकाब किया है जहां उसका पति ही उसे अन्यत्र इस्तेमाल करवाने से नहीं चूकता।

इसी तरह की एक सशक्त कहानी है, ‘विवाइयां’ जहां कर्ज उठाने को मजबूर आमजन की असहायता का भाव बेचैन कर देता है। रचनाकार की पारखी नजर इन कहानियों में शोषित-वंचितों के पक्ष में जा खड़ी होती है। इस लिहाज से कहानियों के पात्र अपने प्रति बरते जा रहे अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने लगते हैं। चूंकि उर्मिला शिरीष के सरोकारों की जड़ें गहरे

और गहरे तक धंसती जाती हैं, यही वजह है कि वे पात्रों के मनोबल को कतई कमतर नहीं होने देतीं। संग्रह की सशक्त कहानी ‘कुर्की’ के पात्र का विद्रोह हमारी चेतना को झकझोरता है, मर्म को छूता है और निर्मम निःसंगता से वे स्थितियों की तटस्थ विवेचना से कतई नहीं हिचकतीं—‘नाना को लगा, जैसे भूख और अभाव ने अपनों को हैवान बना दिया है। उन्हें नाना का मांस नोंचकर खाने में भी संकोच न होगा। चार महीने के लिए क्या चले गए, सोच लिया, कभी नहीं आएंगे। नाना ने नजरें उठाकर देखा—ऊपर जलता हुआ आसमान, नीचे दरारों से फटी धरती, रूखे पेड़।’ (पृ. 143) इस कहानी के पात्र अपनी हताशा से उबरकर फिर से उसी जमीनी संघर्ष में जुझने के लिए तत्पर हो जाते हैं। ऐसे जुझारू पात्रों की जिजीविषा व जीवटता के बारीक बिंब रचते हुए वे पाठकों को सुखद आश्चर्य में डाल देती हैं जहां तमाम अभावों व घनघोर दुखों के बीच में से ही अनायास आशानुमा सुख का झरना फूट पड़ता है—‘कुछ लोग नाना को पागल कह रहे थे तो कुछ सनकी-मूर्ख लेकिन नाना जानते थे कि इस बार पत्थरों में से पानी निकालना ही है यानी इस बंजर पड़ी जमीन पर फसल पैदा करनी ही है।’

आजकल धर्म की आड़ में चल रहे पाखंड का पर्दाफाश करने वाली मजबूत कहानी की अगली कड़ी है—‘अभिशाप’ जिसमें आए दिन कोई-न-कोई महादेवी प्रकट होकर दुखियारी दुनिया के कष्ट हरण करने का ढोंग रचकर करोड़ों का खेल रचते हुए किसी दिन अचानक गुम हो जाते। दुनियावी दुखों से परेशान होकर भगवान की शरण लेने वाले भक्तजनों का भावनात्मक आर्थिक





शोषण करने वाले धर्म की आड़ में लंबा गेम प्लान सेट करने वालों की धज्जियां उड़ते हुए कहानीकार ने यथार्थ जगत से बहुत सच्ची तस्वीरें खींची हैं जहां धर्मनुमा अफीम चाटने वाले पात्रों के मनोजगत की मीमांसा देखने लायक हैं।

इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में लेखिका ने यथार्थजगत से बहुत साकार बिंब जीवंत किए हैं। महत्वाकांक्षा के भंवर में गोल-गोल घूमते मध्यवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय चेहरों के भीतर छिपे चेहरों की सच्चाई उकेरते हुए वे पूरे पैनेपन से यथार्थ से परे जाकर उनके सपनों का संधान करती हैं और रच डालती हैं कहानी—‘सरगम’ जहां आजकल के टीवी चैनलों पर अपने सपने को बच्चे के जरिए पूरा करने की झटपट रणनीति अपनाती यानी बच्चे का करियर बनने का स्वप्न रचती मां के मनोविज्ञान का रेशा-रेशा करके देखा गया है। ऐसी कहानियां हमारे आसपास के दुख, तकलीफ, तिरस्कार, उपेक्षा व दम तोड़ते सपनों से उपजते हीनताबोध और हताश व विवश पात्रों की अनसुनी आवाजों को अभिव्यक्ति देती हैं जैसे ‘चेहरे’ कहानी में बदलते माहौल में अपने बच्चे के सुनहरे करियर की खातिर कर्ज में डूबे असंख्य मध्यवर्गीय घरों की त्रासदी को पूरी मार्मिकता से पकड़ा है। ‘लूपलाइन’ जहां आजकल की भ्रष्ट होती व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज कराने में सक्षम है तो वहीं ‘हरजाना’ कहानी

आज के बाजारवादी दौर में पैसा कमाने की होड़ में अमानवीय होते चले जाने की लंबी दास्तां है जहां बालश्रम की विवशता और असहायता के मार्मिक टुकड़े चस्पान हैं। ‘असमाप्त’ कहानी मुस्लिम परिवेश व अल्पसंख्यकों की वेदना, दुख, संताप और भग्नाशाओं की कई मुड़ी-तुड़ी तहों को बेबाकी से खोलती एक साहसिक कहानी है जहां कहानी का चरमबिंदु काफी दूर तक जाता है। इन कहानियों में आमजनों के सुख-दुख के अनगिनत किस्से हैं, उनके भग्न सपनों की बेतरतीब कतरनें चस्पान हैं, जीवन में बहुत कुछ कर गुजरने का जज्बा है और धीरे-धीरे रिसते-चुकते रिश्तों की पीड़ा उकेरती इन कहानियों का फलक विस्तृत है और सरोकारों की जमीन गहरी, बावजूद इसके, एक सवाल यह भी उठता है, क्या इन कहानियों में महज यथार्थ की पुनर्प्रस्तुति भर है?

आज के दमघोंटू प्रतियोगी माहौल में पात्रों की चुकती महत्वाकांक्षाओं के बीच या टूटते सपनों के बीच फिर से एक नया सपना रचने की मुहिम छेड़ती इन यथार्थवादी कहानियों में पुराने दौर का शिल्प या ‘वही पुराना ट्रीटमेंट या वैसा ही टोन’ वाला अंदाज किसी-किसी को खटक सकता है यानी इनकी लय में नयापन लेकिन अंदाज पुराना।

आज की इस तेजी से हर रोज बदलती दुनिया में जहां कुछ कहानीकारों ने अपना रूपविन्यास, भावविन्यास बदलते हुए अपनी

पुरानी टोन को तिलांजलि दे डाली है, ऐसे नए माहौल में नई इबारतें रचते समय नए सिरे से अभिविन्यास पर भी ध्यान देने की अपेक्षा है। मौजूदा दौर में रोज घट रही नई स्थितियों से उपजती नई टोन को नए लिबास में जहां सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, स्वप्न संसार की कल्पना के नए-नए रंग-रूप आदि के साथ प्रस्तुत करें तो कहानी कला के सौंदर्य वितान की बहुविध संभावनाओं के नए द्वार एक झटके में खुल सकते हैं। हमारी सुप्त इच्छाओं और अतृप्त सपनों को अतिक्रमित करके जब इस बहुआयामी यथार्थ की तोड़-फोड़ करते हुए ओट में रह गए नए किस्म की अलक्षित परतें भी पाठकों को नजर आएंगी जहां से संभावित जीवन रस के सोते तलाशे जा सकें। हम सब एक ही जीवन में अनेक तरह के जीवन जी लेना चाहते हैं अतएव अलग-अलग परिवेश में बदलते बनते हालातों से मुठभेड़ करते हुए अलग-अलग टोन को पकड़ने की जरूरत महसूस होती है। ऐसे में, आज के दौर की कहानियों का स्वरूप भी इन बहुविध नए कोणों का संधान करते हुए नए किस्म की शब्द सत्ता का सौंदर्य विधान रच सकें तो निश्चित रूप से इन कहानियों में नए किस्म का आस्वाद पाठकों को मिलेगा जोकि आज के उत्तर समय के साथ-साथ चलने की अनिवार्य शर्त भी है जैसे कि इस संग्रह की एक खूबसूरत कहानी है—‘कुछ इस तरह’ जो उत्तर समय में बदलते समय में प्रेम की नई अवधारणा को संपुष्ट करती चलती है।

आम जनजीवन से जुड़े सार्थक विषयों की वैविध्यता इस संग्रह को पठनीय और प्रासंगिक बनाती है। कुल मिलाकर यथार्थवादी परंपरा की एक मजबूत कड़ी के रूप में दर्ज ये कहानियां आज के भूमंडलीकरण और बाजारवादी दौर में पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ तनकर खड़ी पूरी ताकत से अपना प्रतिपक्ष रचने में सक्षम हैं।

कुर्की व अन्य कहानियां/उर्मिला शिरीष/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 250

**5/259 विपुलखंड, गोमतीनगर, लखनऊ
मो. 09452295943**

सर्वहारा की कहानियां

सरिता शर्मा

‘सर्वहारा’ शब्द में सर्वहारा के अनेक शेड्स हैं। गरीबी रेखा से बहुत नीचे पेट तक न भर पाने वाले लोगों से लेकर थोड़ी बहुत मेहनत-मजदूरी करके अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा कर सुखद भविष्य का सपना देखने वाले लोग इसमें शामिल हैं। न उन्हें आरक्षण से कोई लाभ मिलता है, न सरकारी योजनाओं से। आजादी का जो प्रभाव इन पर पड़ना चाहिए था, नहीं पड़ा। नेताओं और प्रबुद्ध लोगों ने उनकी ओर से आंखें मूंद ली हैं। जहां इतनी चकाचौंध, बाजार और प्रचलित विमर्श हों, इन पर कोई क्यों ध्यान दे? भाषायी जादूगरी का सहारा लेकर ऐश का जीवन बिताने वाले कुछ लेखक इनके जीवन को भुनाकर नाम और पैसा कमा लेते हैं, हालांकि गरीबों के दुख से उन्हें कोई मतलब नहीं है। ऐसे माहौल में प्रकाश कांत का कहानी संकलन ‘टोकनी भर दुनिया’ आश्वस्त करता है क्योंकि गरीबों की चिंता लेखक इन कहानियों के बाहर भी लगातार करता रहता है। इनमें हाशिये के नीचे रहने वाले लोगों के जीवन को बहुत पास से महसूस करके संवेदनशीलता से दर्शाया गया है।

पहली कहानी ‘सूरज के स्याह होने तक’ में चश्मा बनाने वाले के पास आने वाले लोग नजरिया बदलने के बारे में बात करते रहते हैं। गरीब के पास अपनी हालत सुधारने का विकल्प ही नहीं होता है और उसकी अपनी आंखों की रोशनी चली जाती है। ‘सुरंग’ कहानी में कबाड़ बेचने वाले कल्लू और चंदू की स्थिति का व्यंग्यात्मक चित्रण किया गया है। एक दिन भूख और हताशा के चलते चंदू सुरंग की बंद नाली में चला जाता है, जहां से लौट कर आना संभव नहीं हो पाता। लेखक को लगता है गरीबों के लिए देश ही सुरंग है ‘सुरंग जो देश हो सकती थी या शायद देश ही थी।’ ‘नंबर छयासी’ में कांस्टेबल राम प्रसाद घर में पगलाती बीवी और परेशान करने वाले बच्चों की फौज के साथ-साथ सिनेमाघर की

लाइन ठीक करने की ड्यूटी निभाता है। धीरे-धीरे उसका अपना मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है तो वह पूरे मुल्क को ही लाइन में खड़े करने की बात करने लगता है। और सड़क पर चल रहे लोगों पर डंडे बरसाने लगता है ‘लाइन में चलो, लाइन में चलो, लाइन...लाइन...’

कुछ कहानियों में प्रतिरोधात्मक स्वर भी नजर आते हैं। ‘हेला एक्सप्रेस’ में म्युनिसिपल्टी की गंदगी ढोने के लिए पाड़ा गाड़ी चलाने वाले दादा पर दफ्तर में काम करने वाले ऊंची जाति के लोग फब्तियां कसते हैं। म्युनिसिपल्टी ने ट्रेक्टर ट्राली खरीद ली, तो उसका बेटा उसे चलाने लगता है। मगर दफ्तर में बेटे को भी ‘हेला एक्सप्रेस’ कहकर चिढ़ाया जाता है तो वह पलटवार कर देता है। ‘सालो मेरी तरफ क्या देख रहे हो। मैंने और मेरे पुरखों ने तो हेला एक्सप्रेस जैसी गाड़ियां हजारों साल हांकी हैं। जरूरत पड़ने पर तो फिर हांक लेंगे, लेकिन तुम लोग अपनी सोचो। तुम ढो पाओगे अपनी गंदगी?’ ‘इबातर से बाहर का सच’ में टैंपो चलाने वाले

खुशमिजाज रहमत चाचा जरूरत पड़ने पर गांव वालों की मदद करने के लिए तैयार रहते हैं। मगर गुंडे उन्हें परेशान करते हैं। जब कुछ शराबी लड़के जबर्दस्ती टैंपो पर बैठकर पास के गांव में चलने की जिद करते हैं तो वह लोहे का सरिया उठाकर उन पर टूट पड़ते हैं। जिससे लड़के डरकर भाग जाते हैं। ‘गए हुए लोग’ कहानी में देश के विभाजन के चलने भारत-पाक में बंटे एक परिवार की दर्दनाक दास्तान है। रहमत मियां के मामू पाकिस्तान चले जाते हैं जहां उनकी माली हालत बिगड़ जाती है और भारत-पाक के बीच कटु संबंधों के चलते वह न तो रिश्तेदारी में शादी-ब्याह के मौके पर भारत आ पाते हैं न ही अब्बू की मौत पर। उनकी अंधी अम्मी आखिरी बार मिलने के लिए तरस रही है मगर मामू के ही मरने की खबर का खत आ जाता है। रहमत मियां की हिम्मत नहीं पड़ती कि अम्मी को यह बात बताए।

पारिवारिक रिश्ते से जुड़ी कहानियां भावुकता और बेबसी से पाठकों को द्रवित कर देती हैं। ‘बची हुई नदियों’ में अपनी खराब आर्थिक स्थिति के कारण नायक बहन के बार-बार कहने पर भी जीजा के इलाज को टालता रहता है। बहन और जीजा उसके घर आ जाते हैं तो भी वह ऊहा-पोह में पड़ा रहता है कि जीजा को मना कैसे करे। जब बहन बताती है कि वह इलाज के पैसे कर्ज लेकर आई है तो वह राहत महसूस करता है। ‘शेष होता इतिहास’ बेटे के प्रति मां की ममता की मार्मिक कहानी है। पागल बेटे की जब पागलखाने में मृत्यु हो जाती है तो मां को ही सबसे अधिक दुख होता है।

‘साहब के जूते’ कहानी में नौकर साहब द्वारा पहने जाने वाले अतिरिक्त जूते पीछे छूट जाने पर उन्हें लौटाने के लिए परेशान है। जूते साहब की तरह ही आतंक के प्रतीक हैं क्योंकि वह उनकी मार खा चुका है। ‘अपने से बाहर’ में वृद्धावस्था में गिरफ्त से छूटती चीजों पर गहराई से विचार किया गया है।



लगातार अपनी दुनिया में खोये रहने वाले बुजुर्ग को लगता रहता है कि वह कुछ-कुछ गड़बड़ियां करता रहता है। गलती का अहसास हो जाने पर भी वह बेध्यानी में रहता है। 'तमाशों का सच' में जिंदगी के तमाशे को उजागर किया गया है। जवान बहू-बेटे की मौत के बाद वृद्ध दंपति पोते को पालते हुए दिन काट रहे हैं। एक दिन पोते की भी मौत हो जाती है तो कथावाचक संवेदना व्यक्त करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता है, 'तमाशा देखते-देखते जब अचानक आप खुद उस तमाशे का कोई हिस्सा बनने लगते हैं, तब कभी-कभी तमाशे को बर्दाश्त कर पाना मुश्किल हो जाता है।' 'लड़कियों वाला घर' में कथानायक पड़ोस में रहने वाली कई लड़कियों और उनके माता-पिता को याद करता है, मगर तांक-झांक और मन में चल रही कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई और तत्त्व न होने के कारण कहानी कमजोर पड़ जाती है। 'बेचेहरा परछाइयां' में लेक्चरर एक छात्रा को देखकर अपनी पूर्व प्रेमिका को याद करता है। अंत में लड़की उसे बताती है कि वह उसकी मां थी।

यह कहानी संकलन अपने सशक्त पात्रों और उनके प्रति संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण रवैये के कारण प्रभावशाली है। पूर्णतः काल्पनिक और बहुत छोटे फलक की कुछ कहानियां ऐसे संकलन में अखरती हैं। 'टोकनी भर दुनिया' में टोकनी में भरे खिलौनों को देखकर कथानायक सोचता है कि काश उसके पास भी ऐसी जादुई दुनिया होती। 'बच्चा अपनी टोकनी भर दुनिया के साथ व्यस्त और उसके सामने अब भी यह सवाल बाकी था कि आखिर क्यों नहीं तब्दील की जा सकती अपनी दुनिया बच्चे की टोकनी-भर दुनिया में।'

सहज रफ्तार से चलती ये कहानियां बड़ी सरलता से पाठकों को खुद से जोड़ लेती हैं और वह पात्रों के दुखों में शामिल हो जाता है। इनमें निम्न और मध्य वर्ग के जटिल यथार्थ को बखूबी उकेरा गया है।

टोकनी भर दुनिया/प्रकाशकांत, नई किताब, एफ-3/7879, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089/मूल्य : 250

1975, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुडगांव-122001, हरियाणा, मो. 9871948430

कहानी

ब्रेकिंग न्यूज : खुरदरे यथार्थ की कहानियां

सुभाष शर्मा

अ

नंत कुमार सिंह हिंदी कहानी का एक जाना-पहचाना नाम है क्योंकि उनके सात कहानी संग्रह प्रकाशित ही नहीं हुए हैं बल्कि चर्चित भी हुए हैं। उनकी कई कहानियां यथा 'मदार के फूल', 'राग भैरवी' और 'लातूर गुम हो गया', 'तुम्हारी तस्वीर नहीं है यह', 'बोझाड़ी' आदि राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा के केंद्र में समय-समय पर रही हैं। उनका नवीनतम कथा संग्रह 'ब्रेकिंग न्यूज' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जिसमें कई अच्छी कहानियां शामिल हैं। संग्रह की पहली कहानी 'भुच्चड़' पाठकों का ध्यान खींचती है। पहले इसका सारांश जान लें। मैं शैली में प्रस्तुत इस कहानी का केंद्रीय पात्र एम.ए. पास आनंद एक बेरोजगार युवक था और इसलिए उसने गांव छोड़कर शहर में एक अर्धसरकारी संस्थान में छोटी-मोटी नौकरी कर ली। वह दस वर्ष के बाद गांव जाता है और पाता है कि सारा गांव—बूढ़े, बच्चे, जवान—क्रिकेट मैच देखने में जुटा है और साथ में खाने-पीने का पूरा इंतजाम है—विशेषकर 'पीने' का। जिस दिन भारत-पाकिस्तान क्रिकेट मैच होता है, उस दिन विशेष जश्न होता है—खाने-पीने के साथ-साथ डिस्को डांस भी। आनंद अपने बचपन में खेले गए ग्रामीण खेलों यथा चिक्का, कबड्डी, हथौवल की याद करता है मगर उन्हें खेलने वाला कोई नहीं है। नई पीढ़ी उनका नाम तक नहीं जानती। आनंद शराब पीने से ही इंकार नहीं करता बल्कि पेप्सी जैसे विदेशी ठंडे पेय को भी नहीं पीता सर्दी बताकर। इस पर घनु चाचा उसे शहर में रहता हुआ भुच्चड़ समझते हैं। इस कहानी का समाजशास्त्रीय विश्लेषण स्पष्ट बताता है कि गांव-समाज तेजी से बदल रहा

है, स्थानीय ग्रामीण खेलों का स्थान क्रिकेट जैसे बड़े और वैश्विक खेलों ने ले लिया है, प्रसिद्ध ब्रांडों की शराबें और शीतल पेय नए मध्य वर्ग का नया शौक और शान है, खेलों में खेल की भावना की जगह खेलने वाले देश के प्रति राष्ट्रीय संबंध निर्णायक भूमिका निभाता है, गांव की सामूहिक ऊर्जा किसी सामाजिक-आर्थिक-राजनीति कर्म में नहीं लगकर मौज-मस्ती में नष्ट हो रही है, और यदि कोई युवक उन समूहों के साथ नहीं रहता, तो उसकी खिल्ली उड़ाई जाती है तथा उसे भुच्चड़ या असभ्य मान लिया जाता है। यह संस्कृति का नया प्रतिमान और पैमाना है। कहानी में पूरी सहजता है और आम लोगों की बोलचाल में कहानी लिखी गई है मगर मुझे ऐसा आभास होता है कि कहानी का थोड़ा और विस्तार होना चाहिए था।

दूसरी कहानी 'मुआर नहीं' ज्यादा बड़ा



सवाल उठाती है—विदेशी कंपनियों द्वारा कॉरपोरेट या ठेका की खेती का सवाल। एक गांव में एक विदेशी कंपनी ने मजदूरी दर दोगुनी कर दी एवं रासायनिक उर्वरक की मात्रा बढ़ा दी। मगर बाद में मशीनों का ज्यादा उपयोग होने से मजदूर बेकार हो गए। सो विक्रम ने लोगों को संगठित किया और उसने नाटक लिखकर और मंचित करके किसानों की दुर्दशा दिखाई। इससे छोटे-छोटे किसान असलियत जान गए और ठेके की खेती का विरोध करने लगे। मगर इस कहानी में एकरैखिकता ज्यादा नजर आती है यद्यपि अंतर्वस्तु का आरंभ और अंत महत्वपूर्ण ढंग से निभाया गया है। इस कहानी में कई शब्द और पद, काफी प्रभावकारी हैं जैसे—खरमंडिल, कलहट, साहब—सुब्बा, ‘बबूल के पेड़ों में आम के झोंप’, नाटक के साथ लौंडे का नाच, ललछौंहा सूरज, जवानी को नशे में डुबो दिया आदि। कहानीकार सक्रिय और क्रांतिकारी युवक विक्रम के साथ पग-पग पर परानुभूतिपूर्वक सहभागिता करता है। यही अनंत कुमार सिंह जैसे मंजे हुए कथाकार की खूबी है कि वे अपनी विचारधारा चरित्रों पर थोपते नहीं, बल्कि चरित्रों को ही धीरे-धीरे परिवर्तनकारी विचारधारा का वाहक बनाते हैं।

तीसरी कहानी ‘वाह रे! आह रे! चौधरी मुरारचंद्र शास्त्री’ मुझे संस्मरण या खबर ज्यादा लग रही है क्योंकि कहानीकार बैंक में मैनेजर है और लेखक-संपादक है, और हू-ब-हू वर्णन इस चरित्र का कहानी में है। दूसरे, कुमार वीरेंद्र एक कवि है और पहले उनकी पत्रिका के संपादन में सहयोगी था और इस कहानी में नायक के साथ मौजूद है इसी नाम से। तीसरे, राबड़ी देवी और नीतीश कुमार को बिहार के मुख्यमंत्री के रूप में उनके नाम से ही दिखाया गया है। चौथे, मायावती का भी छोटा-सा वर्णन है। पांचवें, आरा रीवान, बलिया जैसे सही स्थानों का यथावत् वर्णन है। मगर इसमें कहानीपन गायब है और विश्वसनीयता नदारद है। कहानी झूठ को सच-सा कहने की कला है, मगर इस कहानी में झूठ को सच-सा नहीं कहा गया है।

अगली कहानी ‘लपटें’ सरकारी विद्यालयों की जगह चमकते-दमकते निजी विद्यालयों की कहानी है जो ऊंची फीस लेते हैं, आधुनिकता के नाम पर फूहड़ता दिखाते हैं, ज्ञान के नाम

पर भ्रम बांटते हैं, अनुशासन का हौआ कायम रखते हैं, ज्यादा रकम पर दस्तखत कराकर शिक्षकों को नाममात्र का वेतन देते हैं और पढ़ाई के नाम पर तमाशा दिखाते हैं। छोटी-सी कहानी का सार यह है कि जब उस विद्यालय के आकाश नामक बच्चे का अचानक निधन हो जाता है, तो शोक-सभा नहीं मनाई जाती, सिर्फ स्कूल बसों के सामने के शीशे पर विद्यालय बंद होने की सूचना चिपका दी जाती है। बच्चे सूचना पढ़कर अपने घर लौटते हैं छुट्टी की खुशी मनाते हुए। उनमें कोई संवेदना नहीं जागती—अपने साथी के प्रति। शिक्षक भी शोक-संतप्त नहीं होते। इस नए निजी विद्यालय की अनैतिकता और असंवेदनशीलता का बड़ा उदाहरण है यह कहानी।

‘ब्रेकिंग न्यूज’ इस कथासंग्रह की महत्वपूर्ण कहानी है। किस तरह टी.वी. चैनल में काम करने वाले पत्रकार-संपादक अपने को व्यस्त रखते हैं। उन्हें अपनी प्रेमिकाओं से इश्क लड़ाने के लिए समय मिल जाता है मगर मां और पिता के मरने पर विवेक को घर जाकर श्राद्ध कर्म में शामिल होने की फुर्सत नहीं मिलती। मां के मरने पर उसने पच्चीस हजार का ड्राफ्ट स्पीड पोस्ट से भेज दिया मगर उसके पिता ने उसे लौटा दिया था और आजीवन उसका मुंह न देखने की कसम खा ली थी। पूरे गांव में उसकी थू-थू हुई थी। पिता के मरने पर वह हवाई टिकट मंगवाता है गांव जाने के लिए। मगर चैनल का मालिक उसके पिता के श्राद्ध के लिए पचास हजार रुपये देने की बात करता है मगर उसे रोकता है जाने से क्योंकि कोई महत्वाकांक्षी योजना शुरू होने वाली है। वह अपने छोटे भाई को फोन पर सूचित करता है कि वह आने वाला था मगर फ्लाइट मिस हो गई। आज की आपा-धापी, भागम-भाग और उपभोक्तावादी संस्कृति ने निजी पारिवारिक संबंधों को पीछे धकेल दिया है। सो आज का मनुष्य सुरा-सुंदरी-स्वर्ण में अपने को डुबोए हुए है। जाहिर है कि संवेदना की नदी तेजी से सूख रही है।

अगली कहानी ‘पहियों पर पहाड़’ है जिसमें एक ऐसे लेखक की कहानी है जो घर से पैदल चलकर दस मिनट में अपने कार्यालय पहुंच सकता है मगर रिक्शाचालकों की सच्ची मदद के लिए उनके रिक्शे पर

बैठता है और उन्हें उचित मजदूरी से अधिक भुगतान करता है। फिर वे अपनी गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिए उससे कर्ज लेते हैं और त्योंहारों के समय ‘परवी’ भी लेते हैं। एक दिन बीमार रिक्शाचालक अनवर उसे जबर्दस्ती अपने रिक्शे पर बैठाता है मगर रास्ते में वह मूर्छित हो जाता है। लेखक उसे एक चिकित्सक के दवाखाने में इलाज कराने ले जाता है। यह कहानी लेखक की लोकप्रियता तथा संवेदनशीलता को प्रकट करती है मगर कहानीपन न होने से आत्मकथा-सी प्रतीत होती है।

अगली कहानी है ‘राह जहां मिलती है’ जिसमें पुजारी स्वामी योगानंद हनुमान जी की पूजा-अर्चना के बहाने काफी सार्वजनिक जमीन हथिया लेता है और पीपल के पेड़ के नीचे हनुमान जी की मूर्ति रखकर उसे कब्जा करता है। वह दिन में चमत्कार और रात में रासलीला करता है। स्त्रियों की हर समस्या का समाधान करने का वह दावा करता है। मगर पीपल के पेड़ के नीचे मजदूर, भिखारी और राहगीर छांह लेते थे। कभी-कभी भिखमंगे रात में रुकते भी थे। इससे योगानंद की रासलीला में व्यवधान होने लगा। पहले उसने लोगों को वहां आराम करने से मना किया। बाद में उन्हें नक्सली और उग्रवादी कहकर गांव वालों को उसने भड़काया। मगर अंततः लोग योगानंद की चाल समझ गए। योगानंद ने उस पीपल के पेड़ को कटवा दिया जो ‘गरीबों की धर्मशाला’ थी। धीरे-धीरे आम लोग संघर्ष के लिए संगठित होते गए और पीपल के पेड़ की जगह तथा उसके आस-पास हजारों पौधे लोगों ने रोप दिए जिससे मुरझाए पीपल के पंछी उड़कर नए पौधों पर मंडराने लगे। यह प्रतिरोध और पुनर्निर्माण अत्यंत सुखद और प्रेरणादायक है।

संग्रह की एक कहानी है ‘मुखड़ा—दुखड़ा-टुकड़ा’ जिसमें बिहार से मुंबई गया है एक युवक नौकरी करने। वह ‘अपने गांव को पीठ पर लेकर चलता है’ (पृ. 80) एक दिन वह मुंबई की लोकल गाड़ी में यात्रा करने के दौरान एक परिचित महिला की लाश देखता है जो एक रात नदी के किनारे घूम रही थी और फूट-फूटकर रो रही थी। वह अपने छोटे बच्चे को याद कर रही थी

कि वह कहाँ जाएगा, कैसे जाएगा यदि वह अपनी जान दे देगी। उस रात वह युवक उसे पकड़कर वापस लाया था और अपनी माँ के जरिये उस महिला का दुःख जानना चाहता था। मगर नहीं जान सका। फिर वह मुंबई में लाश के रूप में कैसे दिख रही थी? यह कहानी, शायद कहानी नहीं बन सकी है अथवा मैं इसे ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ।

अगली कहानी है 'जिनगी के मितवा'। यह 1857 की क्रांति के बाद की ब्रिटिश शासनकाल की कहानी है जिसे सुधाकर नामक पात्र एक गोष्ठी में वाचिक परंपरा के रूप में सुनाता है। सलेमपुर गांव में एक बंगला था जमींदार का जिसमें स्टीफेन नामक गोरा साहब ठहरता था। वहाँ अमरूदी डोम की पत्नी परबतिया सफाई करने जाती थी। वह एक दिन गोरे साहब के प्रेमपाश और वासना में बिछ गई। उसने कोई विरोध नहीं किया क्योंकि उसे लगा कि इतने बड़े गोरे साहब ने उसे अपने प्रेम के काबिल समझा। तत्पश्चात् उसे एक पुत्री पैदा हुई—सुगमनिया। सोलह वर्ष की होने पर वह सूप, दौरी, मौनी आदि बनाकर गांव-गांव बेचने लगी। उसके प्रेम में मड़ई दुबे पागल हो गए। उसके परिवार वालों ने मड़ई के डोम बनने की शर्त पर सुगमनिया का विवाह मड़ई से कर दिया। मड़ई वास्तव में डोम बनकर डोम के सारे काम करने लगे—सूप, दौरी बनाने से लेकर लाश के मुंह में आग देने के लिए आग जलाते। वह भोजों में जूठे पत्तल उठाते और जूठन खाते। उधर ब्राह्मण जाति के लोग उन्हें ताना मारते-कोसते और अंततः वह जाति से बहिष्कृत कर दिए गए। मगर प्रेम के पुजारी मड़ई ने इसकी तनिक भी परवाह नहीं की। और 'अकथ कहानी प्रेम की' चलती रही जिससे आज के प्रेमी युगल सबक ले सकते हैं। कहानी काफी प्रभाव डालती है।

इस कथा-संग्रह की अंतिम कहानी है 'बसंती बुआ'। कथावाचक को रात में किसी महिला के रुदन की आवाज सुनाई देती है। उसे लगता है कि बसंती बुआ—जो उसकी जाति-बिरादरी की नहीं थी—को लगा होगा कि उसने विश्वासघात किया है उसके साथ। बसंती बुआ का अपने बनिहार मोहन से

गहरा प्रेम था जो साग खोटने, घास काटने आदि के दौरान प्रकट हो जाता था। उसने कई बार उन दोनों को अंतरंग रूप में देखा था। मगर यह बात गांव में तेजी से फैल गई थी। और इसका दोषी बसंती बुआ कथावाचक को ही समझती थी, सो वह अब उससे नाराज हो गई तथा उसी के कारण वह उस रात गांव से भागकर शहर चला गया। कुछ दिनों के बाद वह गांव लौटा तो मालूम हुआ कि बसंती बुआ की हत्या कर दी गई थी। यह सुनकर वह रोने लगा। तब से वह रोजाना रात में बसंती बुआ की रुलाई सुनता है। वह चिल्लाकर बुआ को बुलाना चाहता है मगर उसका कंठ नहीं खुल रहा है। आजकल उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान आदि में इज्जत के नाम पर होने वाली हत्याओं का प्रतीक है यह कहानी। आज भी दो भिन्न जातियों, धर्मों या एक ही गोत्र के बीच प्रेम या शादी करने वालों पर पहरा है समाज के ठेकेदारों और नैतिक पुलिस का। इससे कभी-कभी इक्कीसवीं सदी के दसवीं सदी होने का भ्रम भी होने लगता है। यह अच्छी कहानी है।

इन कहानियों में तीन तरह की कहानियां शामिल हैं। सामाजिक कहानियां (भुच्चड़, मुआर नहीं, लपटें, ब्रेकिंग न्यूज, राह जहां मिलती है, बसंती बुआ) समाज में व्याप्त कुरीतियों, नई जीवन-शैलियों, नई शिक्षा दुकानों की असंवेदनशीलता, जनसंचार माध्यमों में महत्वाकांक्षाओं और व्यस्तताओं के कारण संवेदना की सूखती नदी, सामुदायिक परिसम्पत्तियों का धर्म के आकाओं द्वारा अतिक्रमण, समाज में प्रेम को न सहने की प्रवृत्ति आदि किसी भी पाठक को बेचैन करती है। और मेरे ख्याल से यदि कोई कहानी पाठक को बेचैन कर दे तो वह सफल ही नहीं, सार्थक कहानी है। दूसरी तरह की कहानियां आत्मकथात्मक हैं जैसे 'वाह रे! आह रे! चौधरी मुरारचंद्र शास्त्री', 'पहियों पर पहाड़', मुखड़ा—'दुखड़ा-टुकड़ा'। ये अधूरी कहानियां हैं जो कहानी बनते-बनते रह गई क्योंकि निजी अनुभवों का साधारणीकरण कायदे से नहीं हुआ। ये वाचाल कहानियां फिर से लिखी जानी चाहिए। तीसरी तरह की कहानी ऐतिहासिक है—'जिनगी के मितवा' जो अति यथार्थ से मुक्त है मगर

मार्मिकता, दर्द और त्याग से परिपूर्ण परस्पर समर्थन अत्यंत सराहनीय है। यदि इसे तकनीक और शिल्प के स्तर पर थोड़ा और मांजा जाता, तो यह अद्भुत कहानी होती। फिर भी इसकी अनगढ़ता में ताजगी है।

अनंत कुमार सिंह पिछले तीस वर्षों से लगातार कहानियां लिख रहे हैं और हाल में पठिपूर्ति कर चुके हैं। वे हर साल एक-दो स्मरणीय कहानियां पाठकों को जरूर देते हैं। मगर कभी-कभी ज्यादा लेखन के कारण कुछ सामान्य कहानियां भी जाने-अनजाने लिख जाते हैं। यूं यह भी सच है किसी कथाकार की सारी रचनाएं उम्दा नहीं हो सकतीं। प्रेमचंद, अज्ञेय, नागार्जुन, जयशंकर प्रसाद, यशपाल जैसे बड़े लेखक भी इसके अपवाद नहीं हैं। अज्ञेय जी कहा करते थे कि यदि किसी पुस्तक में एक भी रचना अच्छी हो, तो वह पुस्तक सार्थक है। मगर इस कथासंग्रह में दस में से सात कहानियां अच्छी हैं। इसलिए कथाकार अनंत कुमार सिंह साधुवाद के पात्र हैं। कई कहानियों में उनके निजी जीवन में फैले सामाजिक संघर्ष, दूसरों की सहायता करने की ललक और त्याग की भावना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्त हुई है। अच्छा रचनाकार होने के लिए उसका अच्छा इंसान होना बेहतर होता है। परंतु यह भी सच है कि हिंदी आलोचकों ने अनंत कुमार सिंह का अभी तक कोई मूल्यांकन ही नहीं किया है। इसके लिए नई पीढ़ी के आलोचकों को उत्तरदायी ठहराना गलत नहीं होगा। मगर इस कथा-संग्रह में भारतीय ज्ञानपीठ जैसी बड़ी प्रकाशक संस्था ने प्रूफ की कई गलतियां छोड़ दी हैं। यूं पुस्तक का आवरण, छपाई, कागज आदि बेहतर है। कुल मिलाकर यह कथा-संग्रह काफी पठनीय है। यदि कहानी जीवन का टुकड़ा है, तो ये टुकड़े जीवनानुभव से पगे हुए हैं। फिर भाषा में रवानी भी है जो पाठक को बांधे रखती है।

ब्रेकिंग न्यूज/अनंत कुमार सिंह/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूटेशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 120

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के.पुरम, से. 10, नई दिल्ली-110022, फोन : 011-2616259

छले गए लोगों के प्रतिरोध की कहानियां

वेदप्रकाश अमिताभ

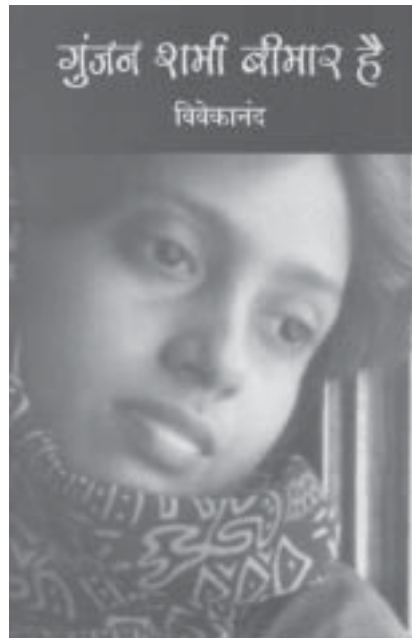
कु

छ समय पूर्व समकालीन हिंदी कहानी में यथातथ्य चित्रण का आग्रह इतना प्रबल था कि सत्येन कुमार जैसे रचनाकारों को अखबार प्रेरित कहानियों में कलात्मक या रचनात्मक मूल्यों की तलाश फालतू लगने लगी थी। दूसरी ओर कुछ कहानीकार जादुई यथार्थवाद के नाम पर इतनी जटिलता और अमूर्तता परोसने लग गए कि उनकी कहानियां संप्रेषण के स्तर पर चुनौती बन गई थी। विवेकानंद के नए कहानी-संग्रह 'गुंजन शर्मा बीमार है' में संकलित कहानियां इन अतिवादी छोरों से न केवल बची हुई हैं अपितु पाठकीय सोच और संवेदना को समृद्ध करने में सक्षम भी हैं। रामदेव आचार्य का मानना था कि बेहतर कहानी के लिए 'अनुभव की दराजों से सही वस्तु चुनना और शिल्प की तल्ली देना' जरूरी है। विवेकानंद की अधिकतर कहानियों में यह सर्जनात्मक विवेक स्पष्ट और मुखर है।

शीर्षक कहानी 'गुंजन बीमार है' एक असफल प्रेम कहानी है और प्रेम की इस त्रासदी के साथ पुरुष वर्चस्व की जकड़न और स्त्री की प्रतिरोध-क्षमता सहज संश्लिष्ट है। 'पुरुष मन की तमाम अपेक्षाएं महज नारी देह तक ही सीमित होकर रह जाती हैं'—गुंजन शर्मा का यह आकलन अंशुमन के चरित्र से पुष्ट होता है। गुंजन ने अंशुमन से प्रेम किया है और इस प्रेम को विवाह की गरिमा से जोड़ना चाहती है। लेकिन अंशुमन विवाह से पहले ही उसकी देह को भोग लेना चाहता है। गुंजन के रोकने पर 'यस यू आर मेंटली सिक बेबी' कहकर तिरस्कृत करता है। वास्तविकता यह है कि गुंजन बीमार नहीं है, चालबाज अंशुमन खुद

बीमार है। पूरी कहानी मनो-स्थितियों के सूक्ष्म विश्लेषण और कलात्मक बुनावट के लिहाज से आकर्षित करती है। अंशुमन के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए गुंजन इस निष्कर्ष पर पहुंचती है : 'नहीं, मैं तुम्हारा षड्यंत्र खूब समझती हूँ। दरअसल तुम मुझसे नहीं, अपने उस अहं से प्रेम करते हो जो तुमने पाल लिया है कि मुझे पाकर ही दम लगे, वरना ऐसी क्या कमी है तुममें जो अब तक मेरी आस लगाए बैठे रहे।' 'देर से आई बारात' भी असफल प्रेम की कहानी है और यहां वर्ग-विषमता मुख्य कारण है। उच्चवर्गीय युवती कुंज की अपेक्षाओं पर निम्न मध्यवर्गीय युवा खरा नहीं उतरता। कहानीकार ने छले गए युवा-मन के प्रेम, द्वंद्व, निराशा के मनोभावों को विस्तार से उकेरा है।

वस्तुतः विवेकानंद बाहरी द्वंद्व, तनाव, परिवेश-बोध और प्रतिवाद-भाव को जिस कुशलता से व्यक्त करते हैं, उससे कहीं



अधिक मनोयोग से वे दुखदग्ध, उत्पीडित और जुझारू चरित्रों की मनोदशाओं को उजागर करते हैं। 'प्रपंच-तंत्र', 'शरीफ लोग', 'लाल लकीर', 'लाल सवाल', 'आंधी-पानी', 'चोंचले' आदि कहानियां वर्तमान व्यवस्था की कुरूपताओं से संबद्ध और इनमें भी तंत्र द्वारा छले गए आम आदमी की नियति केंद्रस्थ हैं। 'हम गरीबों का तो जन्म ही डंडे खाने के लिए हुआ है' (आंधी-पानी), 'रोज-रोज वहीं मांड़ भात और नमक या फिर रोट-नमक-प्याज ही से काम चल रहा है' (लाल सवाल), 'जिस दिन नहीं कमाता, घर का चूल्हा ठंडा रहता है' (शरीफ लोग), 'घर की माली हालत इतनी खराब हो चुकी है कि एकमुश्त सौ-पचास रुपयों का इंतजाम भी मुमकिन नहीं' (प्रपंच तंत्र)—ये सामान्य सी सूचनाएं मौजूदा जनतंत्र की असलीयत और सामान्य जन की दुर्गति की व्यंजना की दृष्टि से बेधक और मार्मिक हैं। लेकिन कहानीकार इस भयानक वास्तविकता के बीच सुगबुगाते आक्रोश के संकेत भी जहां-तहां देता गया है। 'लाल लकीर' में युवा पीढ़ी की प्रश्नाकुलता गौरतलब है—'क्या मात्र नारों से ही समाजवाद आ जाएगा?' 'शरीफ लोग' में प्रश्नाकुलता आक्रोश से आविष्ट है—'तुम लोगों को यह नहीं दीखता कि सरासर अन्याय हो रहा है?' युवा पीढ़ी से आश्वस्ति का भाव इन कहानियों के विजन का अंग है : 'हर आने वाली पीढ़ी का एक खास नजरिया होता है जिंदगी को देखने का।' यह महत्त्वपूर्ण है कि इन कहानियों में विरोध और प्रतिवाद का स्वर लाउड और मात्र वाचिक न होकर संश्लिष्ट है। यह आकस्मिक नहीं कि कमलेश्वर ने उनकी कहानियों के प्रगतिशील दृष्टिकोण



को कहानियों के ताने-बाने में रचा-बसा हुआ पाया था।

‘श्रेष्ठ कहानियां’ शीर्षक भूमिका में डॉ. हरदयाल ने इन कहानियों को रचनाकार के आत्मानुभव की अभिव्यक्ति मानते हुए इनके कथा-शिल्प को भी खासा महत्त्व दिया है। कहानीकार की सहज संप्रेषणीय भाषा ‘कथ्य’ के बयान में पूरी तरह सफल है, अतः चंचल चौहान का यह मानना सही है कि विवेकानंद का भाषा पर अच्छा अधिकार है। वे प्रतीकों-बिंबों पर बहुत निर्भर नहीं हैं, लेकिन इनमें जहां-तहां आए मजार और चित्रकार (देर से आई बारात), सांप और जहर (गुंजन शर्मा बीमार है), पेड़ (महुआ छाया) आदि साभिप्राय हैं। कई कहानियों के समापन अंश सामान्य लगते हुए भी किसी विडंबना को व्यंजित करते हैं। ‘आंधी-पानी’ के अंत में ‘शेड’ और ‘मूसलाधार बारिश’ गरीब मूर्तिकार की तकलीफ और आसन्न संकट को और गहरा गए हैं। लेकिन ये कहानियां कथाशिल्प के बजाय मुख्यतः अपने जनधर्मी कथ्य और असंतोष, निराशा से फूटती परिवर्तन की अकुलाहट की असरदार अभिव्यक्ति के लिए ही पाठकीय स्मृति में बनी रहेंगी, इसमें संदेह नहीं है।

गुंजन शर्मा बीमार है/विवेकानंद, किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002; मूल्य : ₹ 200

डी-131, रमेश बिहार, अलीगढ़-202001, मो. 09837004113

कविता

निजी त्रासदी से ऊपर उठकर

गीता शर्मा

मु

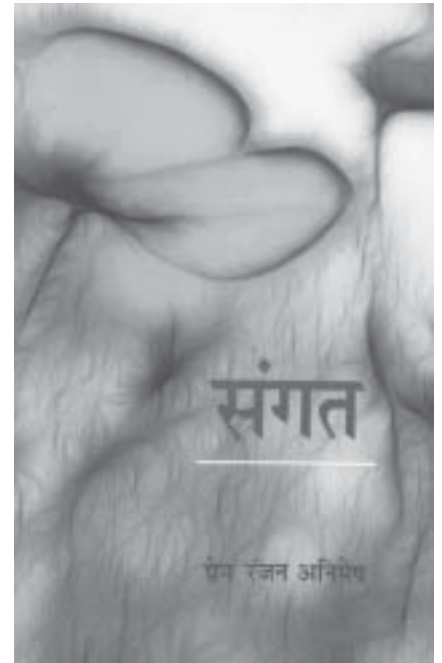
क्तिबोध ने एक जगह लिखा है कि हमारे जमाने की सबसे बड़ी दुर्घटना संयुक्त परिवार का विघटन है। इसीलिए उन्होंने

प्रेमचंद के साहित्य का सर्वाधिक सकारात्मक पक्ष संयुक्त परिवार के प्रति आस्था और विश्वास को बताया था। कहना न होगा कि संयुक्त परिवार के स्थायित्व का सबसे बड़ा आधार उस परिवार के मुखिया और अन्य सदस्यों के बीच पारस्परिक स्नेह, विश्वास और संबंधों की गरिमापूर्ण संवेदनशीलता ही होती है। प्रेम रंजन अनिमेष का ताजा संग्रह ‘संगत’ लगभग इन्हीं भावनाओं की निश्छल अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

मिट्टी के फल, कोई नया समाचार, बिना मुंडेर की छत, अंधेरे में अंताक्षरी और अच्छे आदमी की कविताएं, इन पांच कविता संग्रहों के बाद आया समीक्ष्य प्रस्तुत संग्रह इस मायने में अलग और पिछले सभी संग्रहों से भिन्न है कि इसमें तिल-तिल मृत्यु की ओर बढ़ते दिवंगत पिता की आत्मीय छवियों की निरावेग अभिव्यक्ति है। यों तो पूरा संग्रह रुग्ण पिता की यथार्थ जीवन-स्मृतियों का ही वास्तविक बखान है, लेकिन इसमें मां भी पिता के अखंड और अभिन्न हिस्से के रूप में मौजूद है। मां को लेकर लिखी कविताओं में ही नहीं, बल्कि पिता की भांति-भांति की छवियों में पूरी तरह घुली-मिली हुई। दोनों के संग-साथ को पूरी वास्तविकता और सहजता के साथ अभिव्यक्त करती हुई। इस दृष्टि से इस संग्रह का शीर्षक ‘संगत’ भी एकदम सटीक और विशेष अर्थ-व्यंजक है। सिर्फ मां ही नहीं, बल्कि इन छवियों में, और उनकी धूप-छांही पृष्ठभूमि में, पूरा परिवार ही समाया हुआ है। संयुक्त परिवार के सबसे बड़े सदस्य

से लेकर छोटे अबोध बच्चों तक। यहां तक कि नौकरी इत्यादि के कारण बाहर और अलग रहने वाली इस संयुक्त परिवार की अन्य शाखाएं भी। आत्मीय रिश्तों की संपूर्ण गरिमा और संवेदनशीलता के साथ एक-दूसरे से पूरी गहराई और सहजता से जुड़े हुए। पारिवारिक रिश्तों का यह अटूट और निश्छल जुड़ाव तथा उसकी आवेगरहित तटस्थ काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही इस संग्रह की सबसे बड़ी शक्ति है और उसका सर्वाधिक सकारात्मक पहलू भी।

इस 256 पृष्ठों के भारी-भरकम संग्रह में (भारी-भरकम इसलिए कि आजकल ज्यादातर कविता संग्रह प्रायः 80 से सौ-सवा सौ पृष्ठों के ही नजर आते हैं) छोटी-छोटी 229 कविताएं हैं। कुछ तो मात्र तीन या चार पंक्तियों की ही हैं। पूरा संग्रह, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, रुग्ण पिता की विभिन्न



मनोदशाओं और व्यवहार तथा उसके प्रति परिवार के अन्य सदस्यों, सबसे ज्यादा मझले बेटे (खुद कवि) और उसकी मां की प्रतिक्रियाओं और स्मृतियों का ही जैसे रोजनामचा या क्रमिक डायरी अथवा काव्यात्मक संस्मरणों का लेखा है। पिता की संगिनी (मां) के बारे में लिखी गई शीर्षक कविता 'संगत' में 'सच्चे संगी' की परिभाषा इस तरह से व्यक्त की गई है—

सच्चा संगी/वही
जो वक्त पड़ने/औखत आने पर
हो जाये भंगी

यह काम बचपन से लेकर बुढ़ापे तक एक स्त्री ही कर सकती है। पहले मां के रूप में और फिर पत्नी के रूप में। इस संग्रह की एक अन्य विशेषता यह है कि स्त्री विमर्श के भांति-भांति के नारों और लपफाजी-भरे फैशन से हटकर मां के माध्यम से स्त्री के संपूर्ण जीवन की नियति की ओर कई कविताओं में, बड़े अर्थपूर्ण संकेत किए गए हैं। मिसाल के लिए 'अनिवार' शीर्षक कविता में—

स्त्री का/होना जरूरी
जीवन को सेने-संजोने/बचाने
बढ़ाने के लिए/बचपन और बुढ़ापा
एक से मासूम एक जैसे लाचार
दोनों को चाहिए
वही दुलार वही संभार वही सरोकार
क्या एक स्त्री को
अपने आखिरी वक्त में
मिलेगी/एक स्त्री?

स्त्री की तकलीफ को मां ही नहीं बल्कि बेटे के माध्यम से भी व्यक्त किया गया है। 'तटबंध' शीर्षक कविता में पिता की मृत्यु के बाद बेटे की रुलाई में इस तकलीफ को बड़े मार्मिक ढंग से व्यंजित किया गया है—

पछाड़ें खाती
बेटी जो रो रही थी
अपनी रुलाई में
न जाने कितनी नई-पुरानी
जिल्लत, फजीहत यातनाओं की
संचित पीड़ा धो रही थी
कई आंखों के बीच
एक दीवार के पार
सिर झुकाए बैठे
अपने पति की
उपस्थिति में

और आगे के लिए
जाने कैसी यंत्रणाएं
संजो रही थी...

ऐसा नहीं है कि इस संग्रह की कविताओं में सिर्फ दुख और तकलीफ का ही वर्णन किया गया हो। एक निजी त्रासदी की गहन पीड़ा और उसकी मर्मभेदी स्मृतियों के बीच भी अनेक ऐसी कविताएं हैं, जिनमें विभिन्न प्रसंगों को लेकर लगभग एक खिलंदड़ेपन से हास्य, और कहीं-कहीं तो हल्के-फुल्के व्यंग्य की भी सृष्टि की गई है। मिसाल के लिए पिता को उनके अंतिम दिनों में मां के द्वारा दिए गए नामकरण का प्रसंग हो ('नामकरण' कविता में) या पिता के दर्द और अवसाद में कराहने के दौरान मां द्वारा उनकी तरह-तरह की आवाजों की नकल उतारने का प्रसंग ('ध्वनि-प्रतिध्वनि' कविता में) अथवा ऐसी ही चंद और कविताओं में। प्रेम रंजन अनिमेष एक जागरूक कवि हैं। अतएव ऐसे दुखद प्रसंग में भी वे केवल निजी प्रसंगों में ही नहीं बल्कि समाज, सरकार और सत्ता के अंतर्विरोधों की ओर संकेत करने से भी नहीं चूकते। उदाहरण के लिए 'अवलंब' शीर्षक कविता जिसमें अशक्तता के बावजूद पेंशन के लिए पिता का ठीक-ठीक दस्तखत कर पाने के लिए गलतियों भरा अभ्यास और कविता की ये अंतिम पंक्तियां—

सुन रहे अब सरकारें
गंभीरता से सोच रहीं
सेवानिवृत्ति लाभ से
हाथ खींच लेने
के बारे में...

पहली कविता 'अभिनव' से लेकर 'जीवन हठ' और 'अवश्य' तक, इन छोटी-छोटी 229 कविताओं में पूरा जीवन फैला हुआ है। कहीं-कहीं बीच-बीच में जीवन और मृत्यु को लेकर निस्संग दार्शनिक मुद्राएं भी। कुल मिलाकर ये कविताएं निजी त्रासदी से ऊपर उठकर पूरी तटस्थता के साथ उसे सार्वजनीन बनाने की कला का मार्मिक आख्यान हैं।

संगत (कविता संग्रह)/प्रेमरंजन अनिमेष/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 350

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, सी-1, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 9560466212

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने— एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

काशी कैनवस की सजल-विरल संवेदना

कुमार अनुपम

रे

त में आकृतियाँ' श्रीप्रकाश शुक्ल का नया कविता-संग्रह है। 'नया' कहने का पर्याप्त कारण है। 'रेत में आकृतियाँ' और 'मदनलाल' शीर्षक कविताएं इस संग्रह की प्रेरणा के बारे में संकेत देती हैं। "गंगापार/छाटपार/आकाश में सरकता सूरज/जिस समय गंगा के ठीक वक्ष पर चमक रहा था/बालू को बांधने की हरकत में/कलाकारों का अनंत आकाश/धरती पर उतरने की कोशिश कर रहा था..." (रेत में आकृतियाँ, पृ. 13) मूर्तिकार एवं कवि मदनलाल प्रतिवर्ष काशी में गंगा किनारे अपने गुरु रामनाथ छाटपार की स्मृति में एक आयोजन करते हैं, जहां देशभर के संवेदनशील रचनाकार अपने मनोभावों को बालू में सिरिजते हैं। 'काशी कैनवस' पर एक संवाद घटित होता है—“इस सन्नाटे में एक संवाद था/लगभग मद्धिम कूचियों में सरकता हुआ संवाद” (रेत में आकृतियाँ, पृ. 14)। यह बालू की अंतःप्रकृति की तरह उन्मुक्त और लोकतांत्रिक संवाद मानव मन और प्रकृति का अभिभाषण ही है, जो विभिन्न भावनाओं और चिंताओं को आत्मसात कर लेता है। मुख्यतः इस संग्रह की समस्त कविताओं का उद्देश्य इन्हीं अर्थों को संभाले हुए है, यह संभाल बालू की तरह संश्लिष्ट है, गंभीरता से पढ़ने पर ही इसे महसूस किया जा सकता है; अन्यथा 'लोग रहेंगे आते-जाते तन-भर तुझको देखेंगे' लेकिन 'उठते-गिरते जो संभलेंगे मन-भर तुमको भेंटेंगे'।

कवि श्रीप्रकाश शुक्ल ने अपनी कविताई का विषय 'बालू' को निर्धारित करते हुए बालू की बाह्य और अंतःप्रकृति को मानवीय गरिमा प्रदान की है। नदी-बालू का संयोग और वियोग कवि ने अनेक स्तरों पर संकेतित

किया है। कभी दार्शनिक आध्यात्मिकता तो कभी सामाजिक लगाव-दुराव इस संबंध को अत्यधिक जीवंत बना देता है। यह कवि की उपलब्धि ही है कि—“यह नदी थी/नदी भी क्या नदी थी/जो भी थी/कुछ नहीं थी/सिर्फ रेत थी/जिसमें कटे हुए गेहूँ की बालियों की तरह/सूखे हुए खेत चमक रहे थे।” (नदी, पृ. 21)—होने और होकर भी न होने की एक आदिम (प्राकृतिक) व्यवस्था है जिसे सुविधा के लिए परंपरा कहा जा सकता है; नैसर्गिक जीवन की परंपरा। इसका एक इतिहास होता है, जो अतीत की पुरातनता और भविष्य के झिरझिर उजास में दूर तक पसरा होता है। इसके भीतर अपनी चैतन्यता को महसूस करना अपनी सामाजिक उपस्थिति की सार्थक खोज है। कविता की आगे की पंक्तियों में इस प्रक्रिया का सूत्र मौजूद है—“मैं एक-एक रेत

को निहार रहा था/एक-एक कण में सभ्यता की नींव को टटोल रहा था/और नींव से नींद तक की यात्रा में/रेत अपने पानी में सूख रही थी/...सूखना अंततः रेत होना है।” (नदी, पृ. 21) इन पंक्तियों को पढ़ते हुए मेरा रोम-रोम कांप गया है। क्या किसी 'शव' का बिंब है यह रेत। नदी का शव। शव जिसे गौर से देखो तो उस व्यक्ति की अनेक स्मृतियाँ/चिंताएं/सपने/संस्कार आपको भीतर तक भिगो देते हैं। यह रेत/शव का ही संचित संबंधी जल है जो हमारी आंखों से छलक जाता है। यह नदियों के सूखते जाने की चिंता से जुड़कर एक प्रश्न में तब्दील हो जाता है। रेत का दूर तक पसरा रूमानी विस्तार ऐसे ही कठिन क्षण में हृदयद्रावक हो जाता है, ऐसा कि—“हाय! कैसे कहूं/कि अतीत की दुख भरी लहर से/कभी-कभी ज़्यादे भयानक होती है/वर्तमान की सुख भरी रेत!” (सुख भरी रेत, पृ. 80) इस क्षण के विभिन्न रूप हैं। कवि उन अनेक कारणों का विश्लेषण करता है। 'दर्पण' शीर्षक कविता में इसका एक समकालीन कारण कवि पाता है—“रेत नदी का दर्पण है/जिसमें नदी अपना रूप निहारती है/वह थोड़ा सजती है/थोड़ी संवरती है/और इठलाते हुए आगे बढ़ जाती है/नदी धीरे-धीरे सयानी हो गई है/और अपनी लहरों में आगे बढ़ती हुई थोड़ी छरहरी हो गई है/नदी धीरे-धीरे आधुनिक हो गई है/आधुनिक होती नदी धीरे-धीरे/ठहर-सी गई है।” (पृ. 63) आधुनिक होना क्या क्षण या ठहराव का कारण माना जाना चाहिए या सजने-संवरने और छरहरी होकर आगे बढ़ने में कोई ढंढ हो सकता है, मेरी समझ में यह निष्कर्ष कुछ अपर्याप्त लगता है, एक चित्र, एक बिंब भर इसमें कुछ तथ्य हो तो हो जितना कि एक दर्पण में प्रतिबिंबित हो पाता



है; शायद कवि का इतना प्रकट कर देना ही उपक्रम रहा हो, लेकिन यदि इसमें (दृश्य में) कुछ अन्य इशारे, संकेत आ पाते तो कोई इसका सामाजिक भाष्य किया जा सकता था; श्रीप्रकाश शुक्ल जैसे समर्थ कवि से हमें इतनी तो आशा करनी ही चाहिए।

उपर्युक्त कथन का प्रतिवाद 'अनुवाद' शीर्षक कविता को नए संदर्भ प्रदान करता है। इस कविता में 'बालू' नैरेटर है। 'रेत नदी का अनुवाद नहीं है/वह नदी का विस्तार है'। इस 'विस्तार' को स्पष्ट करती पंक्तियां हैं—'नदी जैसे-जैसे विस्तृत होती जाती है/वैसे-वैसे पतली होती जाती है/और हम मोटे होने लगते हैं/लगभग एक शिलाखंड की तरह/..हम अपने स्वास्थ्य में इतने संलग्न होते हैं कि घोषित कर ही डालते हैं कि नदी बीमार है/जबकि नदी है कि

अपने संपूर्ण वैभव को त्याग कर/हमारी समृद्धि की चिंता करती है एक मां की तरह!" (अनुवाद, पृ. 52)

यह नदी और रेत का रिश्ता माता और पुत्र की तरह है। वात्सल्य भरी मां की चिंताओं और पुत्र की समृद्धि हेतु क्षीण होते जाने को श्रीप्रकाश बहुत कारुणिक संवेदना के साथ रचते हैं; बच्चों का इसी मां के प्रति तटस्थ होते जाने को आज की दारुण सच्चाई की तरह देखा जाना चाहिए। लालसाओं और छलनाओं में गिरफ्तार आज का समाज अपनी जड़ों से कैसे जानबूझकर कट रहा है, जो उनकी गति का वास्तविक बल था उसे दरकिनार कर अंततः शिलाखंड की जड़ता ही प्राप्त कर पाता है। यह कवि गंभीर समाज-विमर्श को समेटे हुए है।

'रेत रूप' कविता अनेक अनूप रूप रेत के उपस्थित करती है—'रेत रूप/अनेक रूप/कुछ फोड़ती चना/कुछ रचाती प्रेम/कुछ बनाती मूर्ति/सहलाती समुद्र/कुछ-कुछ/कुछ ऐसी भी/सुखाती पानी/वह हमारी आंख का हो/या फिर नदी की कांख का!" (रेत रूप, पृ. 90) यहां भड़भूजे के कर्म की साथी है रेत तो रागात्मक अनुभूतियों का शिल्प बनती प्रेमियों का धरेलू स्थापत्य; मूर्ति की गरिमा का समेकित



आधार वस्तु तो समुद्र को दुलारती ममतालु वात्सल्यता भी। दुख और पीड़ा का ऐसा अतिरेक भी है रेत कि भावनाओं का जल पत्थर हो जाता है।

आकार में ऐसी छोटी किंतु विस्तृत संदर्भों से भरी इस संग्रह की कविताएं पाठकों की स्मृतियों-आकांक्षाओं को जुड़ने का लोकतंत्र मुहैया कराने में सफल हैं। यह कवि की सामर्थ्य भी है और कौशल भी। एक कविता कवि से पाठक की मनोभूमि तक पसर जाए जल और रेत की तरह इससे अधिक कवि अपने कला शिल्प से भला क्या उम्मीद करेगा!

'रेत में आकृतियां' संग्रह की कविताएं मनुष्य के राग-विराग, उत्थान-पतन, मोह-विमोह, संचरण और क्षरण का मानवीय अभंग हैं जो एक अखंड गति का ही प्रत्यक्ष परोक्ष महागान रच रही हैं। आस्था-विश्वास-परंपरा-आडंबर-पलायन और संरक्षा का अनेक सामाजिक हस्तक्षेप यहां अपने अनुलोम-विलोम में मौजूद है। दरअसल यह जितनी विश्व की किसी भी नदी का जल और रेत है उससे कहीं अधिक काशी की अड़भंगी रेत और जल से रसी-पगी कविता—जो अपनी गंभीर उत्तरदायी उपस्थिति से साहित्य के जीवन-जगत् को हलचल से भर देने के लिए पर्याप्त है। नदी का कूड़े-कचरे

में तब्दील होते जाना हो या कगारों को नदी में धकेलकर बस्तियों का निर्बाध बसते जाना, फसलों की रगों तक से नदियों का सूखते जाना, नाविक की आंत में रेत का भरते जाना हो—ऐसी अनेक मर्मांतक चिंताएं इन कविताओं में तो मौजूद हैं; एक समंजित विद्रोह भी हस्तक्षेप की तरह दर्ज है—“मत करो शहर को कैद नदियों में/नदियां जिस दिन शहर को कैद कर लेंगी/शहर कैद होगा कचरे में/कचरा होने तक/... नदियां भी कभी-कभी विद्रोह करती हैं/वे धार ही नहीं धूल भी देती हैं/और जब ऐसा करती हैं/श्मशान होती हैं/वे चीखती हैं/चिल्लाती हैं/और विसर्जन के सारे प्रतीकों से छिटककर/मुक्ति का आह्वान करती हैं/वे सदियों की अवधारणा से मुक्त होना चाहती

हैं/मोक्षदा ही नहीं—सही।” (मोक्षदा ही नहीं, पृ. 93) इन पंक्तियों को चेतावनी की तरह पढ़ा जाना चाहिए। अपनी परंपरा, संस्कृति और जीवनदायी फसलों की रक्षा के लिए नदियों को बचाया जाना बहुत जरूरी है—यह इस संग्रह का अभीष्ट जीवनदर्शन है जो अनुकरणीय है। इन्हीं समर्थ संदर्भों के कारण 'रेत में आकृतियां' संग्रह की कविताएं किसी भी प्रचलित विचारधारा और प्रवृत्तियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

'जहां सब शहर नहीं होता', 'बोली बात' जैसे चर्चित कविता-संग्रह पाठकों को सौंप चुके कवि श्रीप्रकाश शुक्ल की कविताओं का यह संग्रह—'रेत में आकृतियां' बिल्कुल नया आस्वाद और कहन की नवीन भंगिमाओं के साथ ही सरल-जटिल किंतु सघन सरोकारों का संवेदी प्रतिफल है—इसका स्वागत होगा, ऐसी शुभाशा है।

रेत में आकृतियां/श्रीप्रकाश शुक्ल/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 120

1048/22 ब्लॉक लोदी कॉलोनी, नई दिल्ली-110003, मो. 9873372181

भावुक ही नहीं विमर्श भी है 'जनतंत्र का अभिमन्यु'

वीरेंद्र सारंग

क

विता लिखना आसान है लेकिन अच्छी कविता का लिखना या हो जाना कठिन। कविता हमारी लय है, यहीं से हमारी गति का निर्धारण होता है। लय के विज्ञान को कविता समझती है। यही कारण है कि जो भी स्वर-संवेदना की ग्रंथि है उसका संचालन वही करती है और हमारा स्मृति क्षेत्र प्रभावित होता रहता है।

आज कविता की स्थिति जो है, वही हमारी स्थिति है। ऐसे गद्यात्मक वातावरण में किसी सार्थक कविता संग्रह का आना स्वयं में एक सुखद अनुभूति है। कवि उमेश चौहान का चौथा कविता संग्रह 'जनतंत्र का अभिमन्यु' जो सद्यः प्रकाशित है, हमें संवेदना और विचार के बीच विमर्श हेतु आमंत्रित करता है। उमेश चौहान प्रशासन में रहते हुए जहां व्यवस्था है, शहर है, मान-प्रतिष्ठा है और समय की छोटी होती लंबाई है, वे अपनी पहचान के साथ गांव की मिट्टी, किसान और आत्मीय संबंधों के साथ बड़ी सजगता से खड़े दिखते हैं।

'जनतंत्र का अभिमन्यु' तीन भागों में विभाजित हैं—कविता, नवगीत और अवधी कविताएं। पहली कविता जो शीर्षक कविता है, एक सवाल से शुरू होती है—'जनतंत्र का अभिमन्यु बचेगा क्या?' यह बड़ी चिंता है जहां सांप्रदायिकता का चक्रव्यूह है और धर्म-जाति की शक्ति के साथ तमाम महारथी। कवि का सिर्फ प्रश्न ही नहीं चिंता भी है कि कैसे बचेगी जनतंत्र की साख। प्रश्न और चिंता प्रायः कई कविताओं में देखा जा सकता है। 'महानाश के कगार पर' लंबी कविता है और यहां भी पृथ्वी-पर्यावरण पर चिंता व्यक्त है। उमेश

चौहान बहुत भावुक हैं। संवेदना की गहरी पैठ है। यही कारण है 'मैं चोर नहीं', 'पिताजी', 'मेरा बेटा' आदि कई कविताएं मानो वे अनायास लिख गए हों। 'मैं चोर नहीं' मार्मिक कविता है। यहां एक छोटी-सी कथा है, लेकिन कथा गौण है। यहां व्यवस्था पर संवेदनात्मक प्रहार है। आज समय के साथ चलना आसान नहीं लेकिन क्या कठिन है? यह सवाल है, जहां यात्रा के तमाम उपकरण मौजूद हों। कवि को समय की पहचान तो है ही, संबंधों पर दृष्टि भी है—'पिताजी अक्सर चले आते हैं/स्मृतियों के अटे पड़े दरवाजे पर।' स्मृतियां गहरी होती हैं मां-बाप की जहां जीवन का प्रारंभ होता है। मनुष्य बेटे से अधिक पिता को याद करता है। शायद उसकी समस्या का हल होना हो या जीवन का समझना। वैसे उमेश जी ने बेटे पर भी कविता लिखी हैं। यहां



आती हुई नई पीढ़ी का वास्तविक चित्र है, जहां एक पिता शीघ्रता में हो रहे मानसिक विकास से साक्षात्कार करता है। यहां विज्ञान की तकनीक है और उसी विधा में उसकी दवा भी।

उमेश चौहान अपनी दृष्टि में विविध आयामों को समेट लेना चाहते हैं। और अब समय आ गया है कि कविताएं अपने समय की गवाही दें, आदमी की शिनाख्त करें, इतिहास को ठीक से समझें। उमेश लिखते हैं—'इतिहास रचने की कोशिश कभी मत करना/इतिहास तो खुद अपने आपको रचता है।' आज इतिहास की जरूरत है, जो खुद रच जाय। लेकिन क्या हमारे अतीत का इतिहास रचा गया या रच गया, सवाल यह है। आज चुनौतियां हैं, बेचैनियां और उतार-चढ़ाव हैं। ऐसी चिंता है जहां कल्पना भी कठिन है। और यह भी कि चिंता क्यों है, की चिंता है। स्वास्थ्य हो, शिक्षा हो या सुरक्षा, हर जगह तनाव है। एक अवसादी वातावरण! इस धुआंए माहौल में प्रेम की जरूरत है, जरूर इससे पुष्ट होगा हमारा मानसिक बल। प्रेम में ताकत भरी रहती है, जो दिखाई नहीं देती। यही शक्ति जीवन का आधार है। उमेश चौहान अपनी प्रेम कविताओं में ढेर सारा कह जाते हैं, मानों वे प्रेम को मूर्त कर बतिया रहे हों। कवि देखता है प्रकाश, दूर होती निराशा, कविता की पंक्ति की तरह जो कही न जा सके—निःशब्द। और प्रेम के भीतर सृजन है—मीठी मुस्कान। कवि का यह तरीका है जीने का। वर्तमान में कितनी जरूरत है प्रेम की, एक शांत वातावरण की जहां व्यर्थ का कुहरा हो न धुआं। हमारी आंखें ठीक से खुली हों, हम देख सकें। हमारा बेकार खाद-खुज्झा

का पता चले। और यह तभी संभव है जब प्रेम की यात्रा चलती रहेगी—‘अपने प्रेम के प्रति इतना विश्वास तो होगा ही हममें/और इतना नाज भी, कि उस दूसरे किनारे पर पहुंचकर/हम एकबारगी इतना तो जरूर सोचेंगे कि/काश! अभी खत्म न हुई होती हमारी यह प्रेम-यात्रा।’ प्रेम का फलक बड़ा है। प्रेम से और भी सवाल खड़े किए जा सकते थे। आज हिंसा, अशांति और अराजकता को प्रेम से रोका जा सकता है। यहां यह भी कहा जा सकता है कि जब सभी प्रेमी हैं तो लड़ाई किस बात की, सुरक्षा क्यों? यह डर क्यों? हथियारों को जंग लगने दो, जरूरत ही नहीं है। हमारा प्रेम सामाजिक व्यवस्था और सरोकारों के प्रति हो। हमारा प्रेम आम आदमी से हो। यहां जेहाद का काम नहीं, यहां मुस्कराहट का डेरा है। प्रेम का विस्तार यहां संभव था और व्यापक रूप से महत्वपूर्ण संदेशों का प्रसार भी। लेकिन कवि तो स्वतंत्र है, उसकी स्वतंत्रता ही उसका सच है। उमेश चौहान संभोग से समाधि की यात्रा भी करते हैं, ऐसा लगता है। प्रेम की मादकता के विभिन्न रंग लिए छः कविताएं हैं। प्रेमालापों पर कविता है तो अलहड़ता भी नहीं छूटती कवि से—‘प्रबल प्रवाह का प्रमाद समेटे/कभी आकर्षित, कभी अपकर्षित करती/लघुजीवी नदी होती है अलहड़ता।’

कविता का वातावरण उमेश चौहान को व्यापक बनाता है, यहीं उनकी बची रहती है कुछ करने, जीने की इच्छा। संवेदना की कोई सीमा नहीं होती। कविता का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। तमाम काव्य तत्त्वों से बिछुड़ती कविता में आज काफी परिवर्तन है। आज का कवि-कर्म कठिन है। यहां यह भी कहना गलत न होगा कि क्या पद्य रचना ही काव्यकर्म है। कविता सिर्फ पद्य नहीं है। उमेश जी में पूरी चेतना है, सरोकार है, जो चाहिए। कविता में वे विस्तार से बच नहीं पाते, जबकि वे अपने गीत खंड में विस्तार से बचने की कोशिश करते हैं। बसंत पर लिखा गीत सामान्य नहीं है। बसंत की मोहक मुस्कान का छलावा नहीं है। यहां भी प्रश्न है कि कैसा बसंत आया? जो तेजाब छिड़कता है, सौंदर्य पसंद नहीं है, फूलों को मसलता, नोचता...। और फिर यह



बसंत मौसम लेकर आता है। कविता खंड में भी ‘बसंत’ शीर्षक से एक कविता है, वहां अपने पुराने रंग में है वह, नया नहीं है कुछ और बसंत के पास नया क्या हो सकता है।...और नवगीतों में बसंत तो अपहरण करता है। यह कवि की सार्थकता और दृष्टि का प्रमाण है कि बसंत बिगड़ गया है, बादल मछुआरों के मन में भय जगाते हैं और फिर बादल का भ्रम। नवगीतों की लय में कवि की पीड़ा साफ सुनाई देती है।

जैसा कि ज्ञात है उमेश चौहान गांव की बोली-बानी, मिट्टी की सुगंध की भावुकता और चिंता के कवि हैं। वे अपनी लोकभाषा का मोह त्याग नहीं पाते। निश्चित ही अपनी माटी की बोली में संस्कार है, जीने की चाह तो है, राह भी है। यहीं व्यक्ति का अभिनंदन है और डांट-फटकार भी, स्नेह-दुलार और विश्वास भरी मुस्कान यहीं है, जहां कोई लाग-लपेट नहीं है। प्रभावित करती और अपना एक पाठक वर्ग बनाती उमेश चौहान की अवधी कविता का अपना खास तेवर है। जमीन का अधिग्रहण करती नगरीय मानसिकता का अभियान क्या हमें गांव, जमीन और हमारे कृषि रोजगार से बेदखल नहीं कर रहा है। किसान की थाती है भूमि और जमीन उसकी पहचान। कवि की धारदार बानगी देखिए—‘लै लेउ! यह धरती लेउ!/फसलन के अर्थी लेउ!/सगरी ठकुर सुहाती लेउ!/फारि कै हमरी छाती लेउ!’ यह छाती फाड़ के लेना जमीन का हृदय और प्राण से जुड़ना है। यह मार्मिक है, जहां आक्रोश का पूरा आवेग है। प्रायः कम देखने को मिलता है—मार्मिक आक्रोश। इस कविता

(जमीन हमरी लै लेउ) की आवाज दूर तक जाती है।...और फिर कवि प्रश्नों में—‘काहे चेहरा है मुरझावा/काहे बुझी सोच कै बाती।’

उमेश चौहान की कविताओं को पढ़कर लगा कि हम कविता से बेदखल नहीं होंगे। कविता का भावुक होना और विमर्श करते रहना जहां उपस्थिति दिखती है, जहां विषय मजबूत और विस्तार पाते हैं।...और यह भी सोचना होगा कि अभी और कितना प्रतिरोध की ऊर्जा भरी जा सकेगी, कितना अभी खोजना होगा सार्थक और तलाशने होंगे कितने उपकरण! ...कविता अभी भी जीवन के साथ है सो कविता जिंदाबाद!!

जनतंत्र का अभिमन्यु/उमेश चौहान/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 180

21/305, राजकीय कॉलोनी, इंदिरा नगर, लखनऊ-226016, मो. 9415763226

निवेदन

‘पुस्तक-वार्ता’ के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य, सजिल्द/अजिल्द संस्करण का ब्यौरा तथा पुस्तक का कवर। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक

अब तो बस कविता ही रह गई है अंतिम अवलंब...

अभिषेक शर्मा

अ

शोक कुमार पांडेय के कविता संग्रह 'लगभग अनामंत्रित' से गुजरते हुए यह बात बराबर महसूस होती है कि आज आदमी ही नहीं शब्दों को भी अपनी इज्जत-आबरू (अर्थ-रक्षा) के लिए अपनी समकालीन शक्तियों से संघर्ष करना पड़ता है। 'एक पुरस्कार समारोह से लौटकर' कविता में कवि ने कुंभनदास की उस गर्वोक्ति को तार-तार होते हुए दिखाया है जिसके बल पर उन्होंने 'सीकरी' दरबार का पुरस्कार टुकरा दिया था। मनुष्य अपने लोभ के सामने कैसे सारी परंपरा, कैसे सारे संबंध और कैसे सारी संस्कृति को भूल जाता है इसकी चर्चा कविता में बड़े मार्मिक ढंग से हुई है। कविता में कवि ने अंतर-बाह्य का जो चित्र खींचा है वह भयावह तो है ही, साथ ही मनुष्य के दोमुंहेपन को भी उजागर करता है जिससे आज की प्रकृति भी अछूती नहीं है। मनुष्य की स्वार्थ-वृत्ति की गहमा-गहमी में कुंभनदास को बेचैन दिखाकर कवि ने एक बार फिर 'मनुष्यता' को बचा लिया है—“वह सीकरी का दरबार ही था भरा-पूरा/और वहां संत ही थे सारे/× × × जब शहर के सारे पेड़ मुरझा चुके थे/उस लॉन की घास रंगों से भी ज्यादा गहरी हरी थी/× × × खलनायक पढ़ रहा था स्वागत भाषण/नायिका अभी-अभी सरस्वती वंदना गाकर दुबक गई थी अपनी कुर्सी में/सारे संत उसके स्वर की प्रशंसा करते हुए/लगातार देख रहे थे मंच की तरफ/वह सीकरी ही थी गर्मियों की उस खुशनुमा शाम/कुंभनदास दरवाजे के बाहर घूम रहे थे बेकरार/और जो संत थे/सारे के सारे भीतर गा रहे थे मंगलाचार!” (पृ. 63-64)

संग्रह में 'मैं चाहता हूँ' नामक एक

विशुद्ध प्रेम-गीत है। इसे कवि का आवाहन गीत भी कहा जा सकता है जिन्हें कोई नहीं पूछता (जैसे सूखी पीली पत्ती) उन्हें कवि अपने प्रेम में भागी बनाना चाहता है। ऐसे ही लोगों की रहीम ने 'दीनबंधु' (...जो रहीम दीनहिं लखें...दीनबंधु सम होय) कहा है। गांधी जी सदैव कहते थे कि—“घृणा को सिर्फ प्रेम से जीता जा सकता है।” गांधी जी के इस विचार को कवि ने कविता में साकार रूप दिया है। यह वैयक्तिक प्रेम से ज्यादा सामाजिक प्रेम का न्योता है, उनके लिए जो अभी तक अनामंत्रित रहे हैं—“मैं चाहता हूँ/एक दिन आओ/तुम इस तरह/कि जैसे यूं ही आ जाती है ओस की बूंद/किसी उदास पीले पत्ते पर/और थिरकती रहती है देर तक।” (पृ. 38)

लोक-संस्कृति, काल-संस्कृति की दृष्टि

लगभग
अनामंत्रित

अशोक कुमार पांडेय



से भी 'लगभग अनामंत्रित' की कविताओं का अपना अलग ही महत्त्व है। कवि न सिर्फ अपनी आत्मालोचना करता है बल्कि लंबे अर्से से चली आ रही लोकोक्तियों और मुहावरों को समकालीन संदर्भों में पुनः-परिभाषित भी करता है। 'उधार मांगने वाले लोग' कविता में 'चादर' साधन-सुविधाओं का प्रतीक है और 'पांव' मनुष्य की उन इच्छाओं का जिन्हें कम कर देने पर उसका जीना मुहाल हो जाएगा। गरीब जनता की संतोष-वृत्ति किस हद तक आत्मघाती साबित हो रही है इस पर बड़े क्षुब्ध मन से कवि लिखता है—“छोटी हो चादर/तो पांव न होना ही बेहतर/झुका ही रहता है हमेशा/मांगने वाले का सर/× × × संतोष एक पवित्र शब्द था उनके भी शब्दकोष का/लालच से नफरत करना ही सीखा था/पूरी हिम्मत से बांध कर रखी थीं मुड़ियां/चुपचाप नजरें झुकाए गुजर जाते थे बाजार से/आ ही जाए दरवाजे पर तो कस देते थे सिटकनियां/दूर ही रखा जीभ को स्वाद से/पैरों को पंख से/आंखों को ख्वाब से/फिर भी/पसर ही गई हथेलियां एक दिन.../दरवाजों के दरारों से/पता नहीं कब सरक आई जरूरतें/पता नहीं कौन से रोग/जाते ही नहीं जो चूरन और काढों से/पता नहीं कौन-सी भूख/मिटती ही नहीं जो मेहनत से।” (पृ. 68)

कवि की रचनाओं में 'परंपरा और वैयक्तिक-प्रतिभा' की एक सौंधी महक भी दिखाई पड़ती है। तुलसी ने लिखा है—“आग वड़वाग्नि से बड़ी है पेट आग की।” कवि ने भारतीय जनता की भुखमरी को सिर्फ चित्रित ही नहीं किया है बल्कि अपने जीवन संघर्षों में उसे अनुभूत भी किया है। कबीर के यहां 'आग' अधिकांशतः प्रेम और ज्ञान

के अर्थों में प्रयुक्त हुई है किंतु अशोक तक आते-आते शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। यहां तक आते-आते कबीर की 'आग' और अशोक की 'आग' में बहुत अंतर हो जाता है। भक्तिकालीन कवियों का चिंतन समग्रतावादी था। वे भेद से अभेद की ओर बढ़ने वाले थे। किंतु अशोक का समय 'भेद' से भी भेदोपभेद वाला है। भक्तिकाल में कवियों ने 'पेट की आग' की बात कही किंतु आज भुखमरी के संदर्भ में 'आग' का रूपक पर्याप्त नहीं है। अब 'आग' जैसे बहुप्रचलित रूपक से भुखमरी का चित्र नहीं खींचा जा सकता—“इस आग के चतुर्दिक/न शोकगीत गाए जा सकते हैं/न किए जा सकते हैं—उल्लास के नृत्य/कोई सभ्यता नहीं बस सकती/इसके इर्दगिर्द हजार वर्षों में भी/इस आग में झुलसे जंगलों में/फिर कभी नहीं उगती कोई कोंपल/किसी फूल-सा नहीं होता इसका रंग/नहीं देखा जा सकता इसकी रोशनी में कोई दृश्य/दृश्यों को सोख जाती है यह आग!/सूर्य जितना दूर ही देखना चाहता हूं/बीस करोड़ डिग्री सेल्सियस की यह आग!।” (पृ. 76) यहां कवि ने 'जापान' के ऊपर हुई बम वर्षा से भी ज्यादा भयावह भुखमरी की घटना (इस आग से/नहीं पक सकती एक भी रोटी।) को बताया है। कहना न होगा कि अशोक की कविताएं साधारण विषयों से असाधारणता की ओर बढ़ने वाली कविताएं हैं। कवि ने तमाम नये अनुभवों को अपनी कविता का शीर्षक बनाया है। 'भगत सिंह' पर लिखते हुए कवि ने नैतिक शिक्षा के संकट पर चिंता जाहिर की है और अंग्रेजों तथा भारतीय राजनेताओं की क्रूरता में अंतर खोजने भी प्रयास भी किया है— “जिन खेतों में तुमने बोई थीं बंदूकें/उनमें उगी हैं नीली पड़ चुकी लार्सें/× × × कौन-सा ख्वाब दूं/मैं अपनी बच्ची की आंखों में/कौन-सी मिट्टी लाकर रख दूं उसके सिरहाने/जलियांवाला बाग फैलते-फैलते/...हिंदुस्तान बन गया है!”

लगभग अनामंत्रित /अशोक कुमार पांडेय/शिल्पायन,
10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा,
दिल्ली-110032/मूल्य : ` 175

स्वास्तिक इलेक्ट्रानिक्स, कॉलेज स्क्वायर,
कटक-753003, उड़ीसा, मो. 09438537967

कविता

अत्यंत सार्थक और सफल काव्यानुवाद

श्याम कश्यप

बी

ती बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में विश्व पटल पर अफ्रीकी कविता की जोरदार उपस्थिति ने पूरी दुनिया के काव्य-प्रेमियों को न केवल चौंका दिया था, बल्कि अपनी ताजगी, मौलिकता और तीखे सामाजिक संदर्भों से बेहद आकर्षित भी किया था। स्मरणीय है कि पिछली शताब्दी के पचास वाले दशक का अंत होते-होते यूरोपीय कविता अपनी चमक खोकर लगभग ढलान की ओर अग्रसर थी तभी अफ्रीकी महाद्वीप के कवियों की कविताओं ने यूरोपीय कविता में भी नवोन्मेष का काम किया था। ये कविताएं विभिन्न यूरोपीय भाषाओं, विशेष रूप से अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनिश और पुर्तगाली भाषाओं में या इन भाषाओं में उनके अनुवाद के रूप में सामने आई थीं।

फ्रांसीसी भाषा में कविताएं लिखने वाले (तब पेरिस में अध्ययनरत) सेनेगल के कवि लियोपोल्ड सेडार सेंघोर (जन्म : 1906) के कविता-संग्रह 'चाट्स डि ओम्ब्रेस' और गेराल्ड मूर तथा उलि बियेर द्वारा संपादित 'मार्डन पोएट्री फ्रॉम अफ्रीका' (पेंगुइन, 1966) के प्रकाशन के बाद अफ्रीकी कविता पूरे यूरोप और अमरीकी महाद्वीपों में अत्यंत लोकप्रिय हुई। फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाषाओं की युवा कविता ने तो इन कविताओं से नई प्रेरणा भी प्राप्त की। सेनेगल की 1960 में फ्रांस की गुलामी से आजादी के बाद सेंघोर वहां के पहले राष्ट्रपति बनाए गए थे। सेंघोर ने अफ्रीकी कविता को एक नई पहचान और 'नेग्रीट्यूड' की विशिष्ट अवधारणा दी। उनकी व्याख्याओं से 'अश्वेत कविता' की एक नई और विश्वव्यापी पहचान बनी। उनके प्रयासों से अफ्रीका की मौखिक

लोक-कविता भी लोकप्रिय हुई।

लेकिन सत्तर के दशक से अफ्रीकी कविता की एक नई पहचान उभरने लगी थी। वह थी उसकी मुक्तिकामी क्रांतिकारी कविता के रूप में रंगभेदवाद, नस्लवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद सहित हर तरह के शोषण और दमन के खिलाफ तथा समाजवादी विचारधारा की ओर उन्मुख सशक्त प्रगतिशील धारा। इसके सबसे बड़े प्रतिनिधि थे पुर्तगाली उपनिवेशवादियों से अंगोला की आजादी के लिए चलाए जा रहे सशस्त्र संघर्ष के नेता आगस्टिनो नेटो, जो 11 नवंबर, 1975 में अंगोला की मुक्ति के बाद वहां की समाजवादी जनतांत्रिक सरकार के प्रथम राष्ट्राध्यक्ष भी बने। इस धारा की सहवर्ती धाराओं में वे कवि शामिल थे जो अपने-अपने देशों की आजादी के लिए यूरोप और



अमरीका की साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष कर रहे थे। इनमें से कई जेलों में नृशंस दमन के शिकार थे, तो बहुत सारे निर्वासित थे। इसलिए भी इन कवियों की कविता को 'निर्वासित कविता' भी कहा जाने लगा था। इस क्रांतिकारी और प्रगतिशील धारा के कवियों में अंगोला, मोजांबीक, दक्षिण अफ्रीका (रोडेेशिया), कांगो, सोमालिया और इथियोपिया सहित अफ्रीकी महाद्वीप के विभिन्न देशों के कवि ही नहीं, बल्कि अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनेडा, (तत्कालीन) सोवियत संघ और विभिन्न लैटिन अमरीकी देशों में बसे हुए (अथवा निर्वासित) कवि भी शामिल रहे हैं। इसलिए 'अफ्रीकी कविता' कहने से इस महादेश की कविता के विविध रंगों और विभिन्न धाराओं-उपधाराओं का ठीक-ठीक बोध नहीं होता। लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि रंगभेदवाद,



सामाजिक विषमता और साम्राज्यवादी शोषण-दमन के खिलाफ एक सामान्य प्रतिरोधी स्वर तथा अपने पूर्वजों और पुरातन संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता के समान भाव इसे एक सामान्य धरातल भी प्रदान करते हैं। आज की समकालीन अफ्रीकी कविता अपनी ताजगी, नएपन और विविधता में विश्व काव्य-परिदृश्य को मौलिक विस्तार देने वाली कविता है।

भारत में, खासकर हिंदी में अफ्रीकी महादेश के विभिन्न राष्ट्रों के महत्त्वपूर्ण कवियों के ही नहीं, बल्कि वहां की मौखिक लोक-कविता के अनुवाद भी समय-समय पर छपते रहे हैं। लेकिन खासी तादाद में छपने वाले इन गद्यात्मक अनुवादों में भी श्रेष्ठ अनुवाद वही रहे हैं जिन्हें स्वयं कवियों, बल्कि अच्छे कवियों ने किया है। ऐसी ही यादगार 'पहल' पुस्तिका के रूप में नरेंद्र जैन के अत्यंत श्रेष्ठ अनुवाद 'अपने बच्चे के लिए शेरनी का गीत और अन्य कविताएं' है। समीक्ष्य पुस्तक 'अफ्रीकी कविताएं' भी इसी परंपरा में एक बेहतर और पठनीय पुस्तक है। इन अफ्रीकी कविताओं का चयन और अनुवाद राजा खुगशाल ने किया है, जो स्वयं

हिंदी के एक अच्छे युवा कवि हैं। ये बेहतरीन अनुवाद पहले 'पहल', 'साक्षात्कार', 'वर्तमान साहित्य', 'उद्भावना', 'आधारशिला', 'समकालीन परिभाषा', 'प्रतिबिंब', 'कदम' और 'जनसत्ता' में प्रकाशित होकर प्रशंसित हो चुके हैं। अब इनका एक साथ पुस्तकाकार संकलित और प्रकाशित होना एक सराहनीय कदम है।

लेकिन इस चयन में एक कमी भी खटकती है। वह यह कि राजा खुगशाल ने उपर्युक्त दोनों धाराओं की कविताएं तो ली हैं, यानी मुक्तिकामी क्रांतिकारी धारा और मौखिक लोक-काव्य धारा की कविताएं, लेकिन उन्होंने उस क्लासिकल अफ्रीकी काव्य-धारा को बिल्कुल ही छोड़ दिया है जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि लियोपोल्ड सेडार सेंघोर माने जाते हैं। दूसरे, चयन में मोजांबीक, इथियोपिया, कांगो आदि के उन अनेक क्रांतिकारी कवियों की कविताएं भी नहीं हैं जो डेनिस ब्रूटस, एंटोनियो, आगस्टिनो नेटो और बेंजामिन मोलाइस—जैसे ही श्रेष्ठ और प्रसिद्ध कवि रहे हैं। बहुत संभव है कि अनुवादक को ऐसे अन्य संग्रह (मिसाल के लिए पेगुइन का 'मार्डन पोएट्री फ्रॉम

अफ्रीका' आदि) उपलब्ध न हो पाए हों! जैसा कि स्वयं अनुवादक ने अपनी भूमिका में सूचित किया है कि इस संकलन की कविताएं 'सेवन पोएट्स ऑफ साउथ अफ्रीका', 'ब्लैक पोएट्स ऑफ साउथ अफ्रीका', 'पोएम्स फ्रॉम अंगोला', 'स्टिल द सायरंस' और 'ओरल पोएट्री' के अंग्रेजी (मूल एवं अनुवादों) से हिंदी में अनूदित हैं।

संकलन में दक्षिण अफ्रीका और अंगोला के सोलह कवियों की पैंतीस कविताओं के अनुवादों के साथ अफ्रीका के जुलू, सोमाली और योरूबा अंचलों के आदिवासी मौखिक परंपरा के (अनाम) कवियों की लोक-कविताओं की पच्चीस कविताओं के अनुवाद भी संकलित हैं। इस दृष्टि से यह संकलन (चाहे कुछ अधूरी ही सही) अफ्रीकी महादेश की कविताओं की एक बानगी तो पेश करता ही है। इसमें, जैसा कि राजा खुगशाल ने लिखा है, "मनुष्य का शोषण करने वाली संगठित शक्तियों का प्रबल प्रतिरोध है। अफ्रीकी कविता जीवन में आस्था और विश्वास की कविता है। अफ्रीकी कविता में पहाड़, जंगल, नदी, समुद्र, पशु-पक्षी, पृथ्वी, फूल-पत्ते और आकाश काव्य-परिवेश को व्यक्त करने के माध्यम भर नहीं हैं, बल्कि सामाजिक संघर्षों को अभिव्यक्त करने के आवश्यक उपमेय हैं।" सभी अनुवाद अत्यंत सुंदर और सफल कहे जा सकते हैं। भाषा और शैली ऐसी सहज, स्वाभाविक और मोहक है कि लगता है जैसे ये विभिन्न भाषा-भाषी अफ्रीकी कवि हिंदी में ही कविताएं लिख रहे हों। किसी काव्यानुवाद की इससे बढ़कर सफलता भला और क्या हो सकती है! सफल ही नहीं, सार्थक भी!!

अफ्रीकी कविताएं/चयन एवं अनुवाद : राजा खुगशाल/आधारशिला प्रकाशन, बड़ी मुखानी, हल्द्वानी, नैनीताल (उ.खं.)/मूल्य : ₹ 200

वी-13, दैनिक जनयुग, अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 09891250940

नामवर-समग्र का समाहार

रेवती रमण

‘ना

मवर होने का अर्थ’ कवि-आलोचक-संपादक भारत यायावर की एक विलक्षण कृति है। यह हिंदी के शिखर आलोचक डॉ. नामवर सिंह के आत्म-संघर्ष और व्यक्तित्व-विकास की दृष्टांत-कथा है। इसमें तिथि-क्रम से चरित नायक को सतह से ऊपर उठते हुए प्रदर्शित किया गया है। इसे लेखक ने ‘नामवर सिंह के जीवन और साहित्य का एक पार्श्वचित्र या प्रोफाइल’ कहा है तो गलत नहीं कहा है। किंतु स्वरूप और संरचना में यह विलक्षण है तो इस वजह से कि अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। इसमें अच्छी संख्या में नामवर जी की कविताएं हैं। नामवर जी इतने बड़े आलोचक हैं, पर केवल आलोचक नहीं हैं। कविताओं के अतिरिक्त उनका सर्जनात्मक गद्य भी अनूठा है, जिसके कुछ नमूने इस किताब में रखे गए हैं। जीयनपुर के नामवर जी बनारस, इलाहाबाद, सागर, जोधपुर से चलकर देश की राजधानी दिल्ली में प्रतिष्ठित होते हैं। उन्हें हिंदी की आचार्य-परंपरा की अंतिम सुदृढ़ कड़ी के रूप में मान्यता मिली है। उनकी एक आचार्य वाली प्रभावशाली छवि है। उन्हें बोलते हुए देखना-सुनना सुखद है, प्रीतिकर है। उन्होंने लगातार लिखा है पर उनकी परवर्ती छवि एक बोलती हुई, अवधारणाओं के लिए सदैव संकट प्रस्तुत करने वाली वैश्विक मेधा की छवि है। उनके बारे में टीका-टिप्पणी करना आसान न हो तब भी सभी करते हैं। दुनिया का कोई अन्य आलोचक उन-सा लोकप्रिय नहीं। इसलिए विमर्श-हेतु वे तमाम साहित्य-प्रेमियों के आत्मीय हैं, विशिष्टों के सतत् विरोध के बावजूद।

भारत यायावर ने इस किताब में एक नया प्रयोग किया है। उन्होंने अन्य के अधिकाधिक विचारों का संकलन और संयोजन करके अपना मंतव्य साधा है। यह कार्य अनुसंधान से अधिक महत्त्व रखता है। इससे

नामवर के व्यक्तित्व के साथ समग्र कर्तृत्व की झलक मिल जाती है। जाहिर है, इस किताब में लेखक की भूमिका बदली हुई जान पड़ती है। पर इरादे उसके नेक हैं। भारत यायावर नामवर जी को गुरु मानते हैं तो शिष्यत्व का पूरी श्रद्धा के साथ उन्होंने निर्वाह भी किया है। यह एक स्वागत-योग्य प्रयोग और प्रस्तुति है। नामवर जी कवि हैं, ललित निबंधों के प्रणेता हैं, आचार्य हैं, अप्रतिम वक्ता हैं। उन्होंने डायरी लिखी है, पत्र लिखा है। आत्म-कथा, संस्मरण और यात्रा-वृत्त भी। उनका आलोचनात्मक लेखन इसीलिए सुस्वादु और समावेशी हुआ है। ‘जनयुग’ और ‘आलोचना’ जैसी पत्रिकाओं के संपादक नामवर जी ने राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्य ग्रंथों का भी निर्धारण-संपादन किया है। उनका विमर्श विभिन्न ज्ञानानुशासनों से सघन संवाद की स्थिति में भी साहित्य-विमर्श बना रहता है। एक साहित्य-समालोचक के रूप में उनकी उपस्थिति साहित्येतर मंचों पर भी सर्वोपरि बनी रहती है। इससे हिंदी जाति का सम्मान बढ़ता है। उनका सांस्थानिक व्यक्तित्व वर्चस्वी



होने पर भी असह्य नहीं हुआ। भारत यायावर ने नामवर जी की कृतियों के साक्ष्य पर, उनसे चुने हुए अंशों को लेकर, कुछ प्रासंगिक समकालीनों के सहयोग से नामवर जी की जो प्रतिमा खड़ी की है, वह हमारे जातीय कवि-लेखक-चिंतक की बोलती हुई प्रतिमा है।

अनुसंधान-वृत्ति को मौलिकता का मोह नहीं होता। शिष्य-भाव से सोचने और सामग्री-संयोजन करने के बावजूद एक ठेठ भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि के रूप में नामवर की अर्थ-निष्पत्ति भारत यायावर की कोशिश है और यही उपलब्धि भी। उन्होंने नामवर सिंह के छद्म विरोधों को अननोटिस्ड जाने दिया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि नामवर-विरोध असत्य-आधार पर हुआ है। सच नामवर जी के साथ रहा है। अंततः सुनी भी उन्हीं की गई। उत्तर आधुनिक हिंदी साहित्य की मुख्यधारा उन्हीं की संकल्पना के सहारे आगे बढ़ी है। वस्तुतः समकालीन रचनाशीलता के दिशा-दर्शक वही सिद्ध हुए हैं। यायावर को यह बात समझ में आती है लेकिन इसकी व्याख्या और विवेचन के लिए उन्होंने अपने समेत अन्य अनेक लेखकों की रचनाओं के सहयोग से जो अभिनव द्रव तैयार किया है— वह ‘नामवर होने का अर्थ’ है।

चरित नायक के प्रभावशाली और सकारात्मक परिप्रेक्ष्य को उभारकर प्रस्तुत करते हुए यायावर ने विभिन्न रचना-शैलियों और रूपों से सहयोग लिया है। वैसे, प्रमुख उपजीव्य इसमें काशीनाथ सिंह की कृतियां हैं। ‘घर का जोगी जोगड़ा’ और ‘आठे दिन पाठे गये’ के पाठकों के लिए इस किताब का जीवनी-प्रसंग अधिकांश सुपरिचित लगेगा। फिर भी परिणति कंपाती है, भीतर से स्तब्ध कर देती है। अध्येता के लिए आत्म-मंथन अपरिहार्य हो जाता है। कई सवाल सिर उठाते हैं। क्या लोकप्रियता, प्रसिद्धि, महत्ता की उपलब्धि

प्रतिभाशाली धुनी मनुष्यों के लिए अक्षम्य अपराध है? क्या अपनी शर्तों पर रुचि के क्षेत्र में बने रहने के लिए सहज मानवीय आकांक्षाओं की तिलांजलि अनिवार्य है? बाहर कर्तृत्व की जो चमक है, चकावौंध है वह भीतर के जिस अंधेरे की प्रतिक्रिया है वह कितना गहन है? जनश्रुति है कि महान् लोग आत्मीय परिजनों के प्रति प्रायः निर्मम ही सिद्ध हुए हैं। घर जोड़ने की माया औसत और साधारण के हिस्से है। महत् की चाहत मानवीय हो तब भी इसकी पूर्ति हेतु बुद्ध-मार्ग ही पारंपरिक है।

मुक्तिबोध ने लिखा था—‘पिस गये दो कठिन पाटों बीच। ऐसी ट्रेजेडी है नीच।’ नामवर जी पिसे नहीं। उनकी ताकत विरोधी और संगठित समूह से जूझने के समय कई गुणा बढ़ जाती है। उनकी छवि एक ऐसे धनुर्धर की छवि है, जिसके तरकश में तरह-तरह के दिव्यास्त्र हैं। विरोधी मठाधीशों के लिए तो उनके देशव्यापी दिव्यास्त्र ही पर्याप्त हैं। अलग से समय की संवेदना का संज्ञान उनका स्वतः स्फूर्त है। वे अपने अस्त्र सतत् पिजाते, नया करते रहते हैं। विचारधारा भी तो वैतरणी पार करने का साधन है। नौका को कंधे पर ढोते रहना बुद्धिमानी नहीं। वह विचारधारा के बंदी नहीं, यायावर हैं—यह बात सबसे पहले अशोक वाजपेयी ने कही थी। ‘कविता के नये प्रतिमान’ के कारण नामवर जी को रूपवादी कहा गया पर तब तक उनकी समझ में यह बात आ गई थी कि आलोचना का अर्थ अंतर्वस्तु की परिक्रमा करना नहीं है। रूप को आधुनिकतावादियों का सबसे मुश्किल मोर्चा समझकर उन्होंने मुक्तिबोध को उनके खिलाफ खड़ा करने में सफलता प्राप्त की।

भारत यायावर की इस किताब से काफी कुछ नया भी जानने को मिलता है। जैसे, नामवर जी ने कविता की पहली किताब ‘हनुमान चालीसा’ पढ़ी। तब वे आवाजापुर के प्राथमिक विद्यालय में अपने चचेरे भाई के साथ पढ़ने जाते थे। पिता ने उनका नामकरण किया—‘रामजी’। किंतु पड़ोस की एक महिला ने इनका नाम ‘नामवर’ कर दिया। जब उन्हें ‘रामजी’ कहकर बुलाया जाता तो वे रोने लगते और ‘नामवर’ कहकर बुलाने पर चुप हो जाते।’ (पृ. 32) बाद में उनके अनुज का नाम रामजी रख दिया गया।

नागर सिंह और बागेश्वरी देवी की

सबसे बड़ी संतान होने के कारण नामवर जी को पिता कभी नाम लेकर नहीं बुलाते थे। उनको ‘बड़के जन’ कहते। मां अक्सर भोजपुरी गीत मधुरकंठ से गाती थीं। ज्यादा पढ़ी-लिखी न होने पर भी वे विद्या का आदर करना जानती थीं। नामवर जी ने स्वीकार किया है कि ‘मेरे भीतर बसे लोकगीतों में मां खुशबू की तरह रची-बसी हैं। जीवन का रस, लोकगीतों का लालित्य, लोकगीतों की पंक्तियों में छिपा जीवन, उन धुनों का सौंदर्य मां से ही जाना।’ ‘मां नामवर जी की पहली पाठशाला थीं।’

नामवर जी चाहे विचारों में जितने आधुनिक और प्रगतिशील हों, परिवार के भीतर एक किसान की तरह मर्यादावादी रहे हैं। सबका ख्याल रखते हैं। उन्होंने पुरखों की रीति का निर्वाह किया है और संयुक्त परिवार के प्रति अपने कर्तव्य से कभी पीछे नहीं हटे हैं। उन्हें भाइयों के बीच बंटवारा पसंद नहीं था। उन्हें पैत्रिक संपत्ति का लोभ नहीं रहा। प्रारंभिक शिक्षा में पिटाई होती थी। अपने शिक्षक पिता से नामवर जी को भी पिटना पड़ा। पिटते वक्त बचाने के लिए आगे आते थे माधोपुर स्कूल के शिक्षक मताउल्लाह खान। स्कूल के सहपाठियों से उनका झगड़ा भी होता था। वे खादी पहनते और नंगे पांव चलते। मताउल्लाह खान के कहने पर पिता ने उनके लिए पहली बार जूते खरीदे।

जिन दिनों नामवर जी पांचवीं कक्षा में थे, हेमत्पुर के कामता प्रसाद विद्यार्थी के यहां जाने लगे। वहां उन्होंने ‘सैनिक’, दैनिक ‘आज’, और सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित कई पुस्तकें पढ़ीं। ‘सैनिक’ में छपे कार्टून उन्हें अच्छे लगे। विद्यार्थी जी के यहां ही उन्होंने नेहरूजी की ‘मेरी कहानी’, ‘विश्व इतिहास की झलक’, गांधीजी की आत्मकथा ‘सत्य के प्रयोग’ और तोल्सतोय की ‘प्रेम में भगवान’ जैसी पुस्तकें पढ़ीं। विद्यार्थी की पुत्री सरोज ने उनके जीवन में बहन की कमी पूरी कर दी।

कवि ‘पुनीत’ का जन्म कक्षा छह में हुआ। किशोर कवि ने कविता लिखी—‘चढ़्यौ बरतानिया पर हितलर ‘पुनीत’ ऐसे/जैसे गढ़ लंक पर पवनसुत कूदिगौ।’ वीर रस के साथ ब्रजभाषा में श्रृंगार रस के कवित्त-सवैयों की रचना से नामवर सिंह ‘पुनीत’ के कवि जीवन की शुरुआत हुई। उनमें आशु कवित्व के लक्षण थे। समस्या-पूर्ति में महारत हासिल

थी। किंतु ऐसे कवियों में पुस्तक-प्रेम कम ही मिलता है। नामवर जी का पुस्तक-प्रेम अप्रतिम था। सातवीं कक्षा में वह श्यामसुंदर का ‘साहित्यालोचन’ और जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ का ‘उद्धव शतक’ पढ़ चुके थे। 1940 में मिडिल की परीक्षा में वह फेल हो गए। इतिहास की परीक्षा में शिवाजी पर उन्होंने इतना लंबा लिखा कि शेष प्रश्न छूट गए। 1941 में जब वह पंद्रह साल के थे, हीवेट क्षत्रिय स्कूल बनारस पढ़ने पहुंचे। कक्षा सात में ही। वहां उनकी अंग्रेजी अच्छी हो गई। उस स्कूल के प्राचार्य जे.पी.सिंह अंग्रेजी कविताएं पढ़ाते थे। उनके पढ़ाने की प्रक्रिया में ही छात्रों को कविताएं याद हो जाती थीं। कविता कैसे पढ़ी और पढ़ाई जाए—इसकी समझ नामवर जी को जे.पी. सिंह से मिली। गुरु ने शिष्य की रचना-प्रतिभा को स्नेह से सींचा। उन्होंने नामवर जी की कविता विद्यालय की पत्रिका में न केवल छपी, बल्कि जब नामवर जी सुना रहे होते तो जे.पी. सिंह उसे गाने लगते। नामवर जी को दूसरे बड़े शिक्षक मिले मार्कण्डेय सिंह। उनसे यह सीख मिली कि विचार स्पष्ट होने चाहिए। भाषा की अस्पष्टता और बागाडम्बर से बचना चाहिए। मार्कण्डेय सिंह रामचंद्र शुक्ल को पसंद करते थे। प्रेमचंद उनके आदर्श थे। ‘कठिन-से-कठिन, जटिल-से-जटिल को सुलझाकर कहने की अद्भुत क्षमता थी उनमें।’ वे नामवर जी के पहले साहित्य-गुरु थे। बाद में नामवर त्रिलोचन जी के संपर्क में आए तो ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली में कविता लिखने लगे। अब वे कवि-सम्मेलनों में भी जाने लगे। एक कवि-सम्मेलन में निराला ने नामवर जी की कविता से प्रसन्न होकर एक सौ रुपये से पुरस्कृत किया। डॉ. शंभुनाथ सिंह के संपर्क में नामवर जी प्रकृति प्रेम की कविताएं सस्वर सुनाते थे। उनकी कुछ पंक्तियां ऐसी हैं, जो पढ़ते ही स्मृति में जगह बना लेती हैं। जैसे—

उनए उनए भादरे/बरखा की जलचादरे/फूल दीप से जले

कि झुरती पुरवैया की याद रे/मन कूयें के कोहरे-सा रवि डूबे के बाद रे!

× × ×

क्षमा मत करो वत्स, आ गया दिन ही ऐसा आंख खोलती कलियां भी कहती हैं पैसा।

× × ×

विजन गिरिपथ पर चटखती पत्तियों का लास हृदय में निर्जल नदी के पत्थरों का हास लौट आ, घर लौट, गोही की कहीं आवाज भींगते से वस्त्र शायद छू गया वातास।

नामवर जी की कविताएं छंदोबद्ध हैं और गेय हैं। उनके उपमान नए हैं। उनकी कविताओं पर त्रिलोचन जी की टिप्पणी 'कवि' में और बाद में 'पूर्वग्रह' में प्रकाशित हुई थी। भारत यायावर की इस किताब में भी वह है। नामवर जी की कविताओं का संग्रह 'नीम के फूल' प्रकाशित होते-होते रह गया किंतु उनके ललित निबंधों का संग्रह 'बकलम खुद' प्रकाशित हो गया। इसके प्रथम संस्करण की केवल दो सौ प्रतियां निकलीं। वह सर्जनात्मक गद्य का अनूठा दृष्टांत है। इस किताब में नामवर जी का एक यात्रा-वृत्त भी पढ़ा जा सकता है—“दार्जिलिंग की एक झलक।” गद्य में कविता।

आलोचक के रूप में नामवरजी ने 1948 में पहला लेख तुलसीदास पर लिखा। पढ़कर शमशेर ने भैरव प्रसाद गुप्त से कहा—‘भैरव भाई, हिंदी आलोचना के क्षेत्र में एक नई प्रतिभा ने पदार्पण किया है।’ इसके बाद 1950 में उनका लेख आया—‘आचार्य शुक्ल और हिंदी समीक्षा’। वह तुलसीदास वाले लेख से बहुत आगे का था। आलोचनात्मक निबंध-लेखन का सिलसिला चल निकला और तब से नामवर जी ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। भारत यायावर ने कृति की राह से या कहें कृतियों के आईने में बड़े होते कद को आख्यान की तरह रचा है। बी.एच.यू. में नामवर जी जब एम.ए. के छात्र थे, तभी देश के मान्य भाषा-वैज्ञानिकों के संपर्क में आ चुके थे। ‘हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग’ उनके एम.ए. का लघुशोध-प्रबंध है, इतना प्रौढ़ और पूरा जितना ‘कविता के नये प्रतिमान’ भी नहीं। एम.ए. के डिसेंटेशन के गाइड पं. केशव प्रसाद मिश्र थे। द्विवेदी जी नामवर जी के आकाशधर्मा गुरु बने सन् '50 में। शांति निकेतन से गंगा-स्नान करने आये पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी से उनकी अचानक ही भेंट हो गई। शोध-विषय में सलाह और सुझाव मांगने पर द्विवेदी जी ने पूरा सहयोग किया। शांति निकेतन लौटकर दोनों में पत्राचार हुआ। द्विवेदी जी भी कविता लिखते थे। ‘रजनी दिन नित्य चला ही किया’—यायावर ने उनकी पूरी

कविता अपनी किताब में प्रकाशित की है। द्विवेदी जी के निर्देशन में नामवर जी ने ‘पृथ्वीराज रासो की भाषा’ पर शोध-कार्य संपन्न किया। शोध के सिलसिले में उन्हें राजस्थान के कई शहरों की यात्रा करनी पड़ी। बीकानेर गए, अगरचंद नाहटा और नरोत्तम स्वामी से मिले।

यायावर की इस किताब से, शिवप्रसाद सिंह और नामवर जी की दूरी का रहस्योद्घाटन होता है। दोनों के बीच कटुता के किस्से पीड़ा पहुंचाने वाले हैं। यह विचारधारा का मामला नहीं है। द्विवेदी जी की आत्मीयता मिली तो इस वजह से बनारस में विरोध भी खूब हुआ। चुनाव लड़े तो नौकरी गई। बनारस छूटा जैसे कविता छूट गई। छूटी नहीं, छोड़ना पड़ा। नहीं छूटा तो स्वाध्याय और स्वाभिमान। नामवर जी ने माथा झुकाया तो केवल पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के श्रीचरणों में।

‘गालिब की दिल्ली में’ नामवर जी को संघर्ष करते हुए देखना विलक्षण अनुभव है। कुछ बातें विश्वनाथ त्रिपाठी के संस्मरण में आ गई हैं—‘हक अदा न हुआ।’ किंचित् अपराध-बोध के साथ त्रिपाठी जी ने लिखा था। नामवरजी राजकमल प्रकाशन और ‘जनयुग’ से जुड़े। सत्तर का दशक पूरा होते न होते वे मास्को से हो आए। अमेरिका के एक विश्वविद्यालय से ऑफर मिला लेकिन ज्वाइन किया जोधपुर विश्वविद्यालय में। वहां ‘आधा गांव’ को पाठ्यक्रम में रखने से झमेला हुआ। जोधपुर के बाद नामवर जी जे.ने.यू. पहुंचे इस दौरान देश-भर में उनके व्याख्यान होते रहे, ‘कहानी : नयी कहानी’ की टिप्पणियों से कथा-समीक्षक के रूप में भी नामवर जी जाने गए। मई, 1992 ई. को पेंसठ की उम्र में नामवर जी ने ज.ने.यू. से अवकाश-ग्रहण किया तो विदाई-समारोह में उन्होंने जो व्याख्यान दिया वह अत्यंत मार्मिक है। कोई अहं नहीं, आत्मसंतोष भी नहीं। याद आए मुक्तिबोध—अब तक क्या किया? फिर भी, नामवर जी कहते हैं—‘सपना देखना छोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि कभी-कभी सपना देखने का अधिकार भी छिन जाता है। तब हकीकत भी मुरझा जाती है और मर जाती है।’ (पृ. 309)।

यायावर की इस कृति में पैंतीस उपाख्यान हैं। ज्यादातर अति संक्षिप्त। कुछ तो केवल दो-तीन पृष्ठों के हैं। कवि धूमिल के ‘मास्टर

साहब’ और ‘नामवर, नवल और अग्नि-स्नान’ इनमें खास हैं। ‘नामवर, नवल और अग्नि-स्नान’ में नवल जी के नाम नामवर जी के कई पत्र भी संकलित हैं। नामवर जी नंद किशोर नवल की प्रतिभा को महत्त्व देते हैं, उनकी पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं। ‘आलोचना’ में वे नवल जी से आग्रह करके लेख तो लिखवाते ही हैं, ‘हिंदी आलोचना का विकास’ ग्रंथ को धारावाहिक प्रकाशित करते हैं। कहीं कुछ संशोधन अनिवार्य हुआ है तो पत्र-संवाद भी करते हैं। नवल जी की रचना-यात्रा कोमल मधुर गीत लिखने से शुरू हुई। साहित्यानुशासन ने पत्रिका-प्रकाशन और संगोष्ठियों के आयोजन की प्रेरणा दी। पहले ‘ध्वजभंग’, तब ‘सिर्फ’ और अंत में ‘कसौटी’ निकाली। इस बीच लंबे समय तक ‘आलोचना’ में सह-संपादक रहे। ‘ध्वजभंग’ 1968 में निकला। इसका दूसरा अंक नवल जी ने नामवर जी को भेजा। तब तक ‘समीक्षा’ में ‘कविता के नए प्रतिमान’ की नवल जी द्वारा की गई समीक्षा वे पढ़ चुके थे। उन्होंने नवल जी को दिल्ली से जो पहला पत्र लिखा उसके लिए नामवर जी कृतज्ञ हुए। ‘कविता के नए प्रतिमान’ की तीखी आलोचना नेमिचंद जैन ने की थी। लेखक पर रूपवादी रुझान का आरोप हुआ था। नवल जी ने सद्भाव के शब्द लिखे तो नामवर जी का कृतज्ञ होना स्वाभाविक था। ‘वैसे पूरी बात उस पुस्तक में मैं नहीं कह सका, इसलिए उसके बाद अगली पुस्तक की तैयारी में लगा हूँ—कहना वह नहीं भूले।

नवल जी ने ‘सिर्फ’ पत्रिका के बैनर तले 27-28 दिसंबर, 1970 को जो युवा लेखक सम्मेलन पटना में कराया उसमें नामवर सिंह की भागीदारी केंद्रीय थी। इस सम्मेलन में अशोक वाजपेयी, कुमार विकल, विष्णु खरे, ऋतुराज, प्रभात त्रिपाठी आदि शामिल हुए थे। सम्मेलन की रपट ‘सिर्फ’-6 में प्रकाशित हुई थी। भारत यायावर ने नामवर-नवल-संपर्क-संवाद को बेवजह नहीं रखा है। इससे नामवर जी की प्रतिभाओं को परखने की क्षमता का पता चलता है।

नामवर और नवल की एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता का रहस्य है—मिला तेज से तेज। नवलजी आलोचना के लगभग बीस अंकों में सह-संपादक रहे। उन्होंने ‘निराला रचनावली’ का संपादन किया। राकेश-समग्र निकाला। ‘तुलसीदास’, ‘मैथिलीशरण गुप्त’,

‘निराला : कृति से साक्षात्कार’ और ‘मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना’ जैसे श्रेष्ठ आलोचना ग्रंथ उनके कालजयी कर्तृत्व के प्रमाण हैं। उन्होंने ‘उत्तर-छायावाद’ को आलोचना-व्यवहार में सम्मान दिलाया। सर्वोपरि नामवर जी के निर्देश पर ‘हिंदी आलोचना का विकास’ प्रस्तुत किया। नब्बे के दशक में पटना प्रगतिशील लेखक संघ इतना सक्रिय था कि नामवर जी उसके आकर्षण में कई बार पटना आए। उनके व्याख्यान हुए। खगेंद्र जी के संपादन में एक किताब भी आई ‘आलोचक के मुख से’। तब नवल जी संगठन में भी सक्रिय थे। उनको लिखे नामवर जी के पत्र आधुनिक साहित्य की निधि हैं।

इस पुस्तक में एक अद्भुत प्रसंग है नवल जी के यहां नामवर जी के साथ यायावर के भी भोजन पर आमंत्रित होने का। बड़ा भव्य वर्णन है, रोचक और सरस। पढ़कर माधव की मनोदशा में पाठक आ जाता है। कवि धूमिल नामवर जी को ‘मास्टर साहब’ कहते थे। वे नामवर जी से दबते थे, काशीनाथ सिंह के सखा थे। इस प्रसंग पर यायावर ने पूरा एक अध्याय लिखा है—‘कवि धूमिल के मास्टर साहब’।

संक्षेप में, पुस्तकें कमोबेश तीन प्रकार की होती हैं। एक वे, जिनके बारे में कोई भी समीक्षा विज्ञापन से अधिक महत्त्व नहीं रखती। दूसरी वे, जिनकी समीक्षा मूल पुस्तक के पाठ से अधिक उपयोगी समझी जाती है। तीसरी कोटि उन पुस्तकों की होती है जिनकी मूल्यांकन-प्रक्रिया में समीक्षक शब्दावली के अभाव से जूझता रहता है। ऐसी पुस्तकों से पाठक का सीधा संवाद ही कारगर होता है। भारत यायावर की पुस्तक ‘नामवर होने का अर्थ’ एक ऐसी ही पुस्तक है। यह नामवर के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को समग्रता में देखने-समझने के लिए लिखी गई है। जो उनके बारे में विशेष जानते हैं, उनके लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। यह एक व्यक्ति नहीं, युग का अवलोकन है।

नामवर होने का अर्थ/भारत यायावर/किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 500

22, रीडर्स, क्वार्टर, यूनिवर्सिटी, कैंपस, मुज़फ़्फ़रपुर-842001, मो : 9006885907

आलोचना

स्वयं के अस्वयं होने की प्रक्रिया

प्रेम भारद्वाज

‘मे

रा जीवन इतना कठोर और कठिन रहा है कि अब न तो मैं उसके घावों को भर सकता हूँ, न काम करने की शक्ति ही खो सकता हूँ।’—**विसेंट**

हिंदी आलोचना के शीर्ष नामवर सिंह का जीवन बाहरी तौर पर बेशक बेहद व्यवस्थित और किसी सत्ता प्रतिष्ठान के प्रतीक का भ्रम देता है। लेकिन यह पूरा सच नहीं है। उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा भी पहलू है जो अलक्षित रहा है। इसमें दर्द और संघर्ष की संगति है। इसे न तो नामवर सिंह ने बयान किया है, न किसी और ने। उनके अनुज काशीनाथ सिंह ने जरूर ‘घर का जोगी जोगड़ा’ में उनकी पीड़ा की एक झलक भर दी है। इस बात को कई लोग शिद्दत के साथ महसूस करते हैं कि नामवर सिंह का जीवन अपने पर लिखे जाने के लिए ‘आवारा मसीहा’ स्तर के जीवनीपरक उपन्यास की मांग करता है। इस संदर्भ में भारत यायावर की पुस्तक ‘नामवर होने का अर्थ’ को जब पाठक पढ़ता है तो उसे यह उम्मीद भी होती है, क्योंकि इस पुस्तक को नामवर सिंह की जीवनी बताया गया है। लेकिन यह उनकी साहित्यिक जीवनी है। लेखक ने इसे शुरू में ही स्पष्ट कर दिया है— ‘प्रस्तुत पुस्तक नामवर सिंह के जीवन एवं साहित्य का एक पार्श्वचित्र या प्रोफाइल है। इसे सही मायनों में ‘जीवनी’ भी नहीं कहा जा सकता। कोशिश यह रही है कि उनके जीवन एवं साहित्य का एक सामान्य परिचय इस पुस्तक के द्वारा प्रस्तुत हो जाए।’ निःसंदेह जीवनीकार अपने इस घोषित लक्ष्य को प्राप्त करने में कामयाब रहे हैं।

इस सवाल का जवाब ढूँढा जाना चाहिए कि हिंदी में जीवनी लिखने की परंपरा का विकास उस रूप में क्यों नहीं हुआ जैसा कि विदेशी साहित्य में देखा जाता है। गिनी-चुनी स्तरीय जीवनियां ही हैं, जिन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। अमृत राय की ‘कलम के सिपाही’, राम विलास शर्मा की ‘निराला की साहित्य साधना’, विष्णु प्रभाकर की ‘आवारा

मसीहा’ के आगे की लकीर नहीं खिंच पाई तो उसकी वजहों को ढूँढा जाना चाहिए। अंग्रेजी में चार्ली चैप्लिन, इजाडोरा डंकन, इरविन, वान गॉग की जीवनी क्लासिक बन पड़ी तो उसके पीछे लेखक का शोध और श्रम था। हिंदी में अधिकांश जीवनियां कमरे में बैठकर, कुछ पुस्तकों को जुटाकर या लाइब्रेरी से संदर्भ एकत्रित कर लिखी जाती हैं इसलिए उनका स्तर विश्वस्तरीय नहीं हो पाता है। भारत यायावर स्वभाव से भी यायावर हैं और वे खोज में विश्वास करते हैं। अपनी इस क्षमता का परिचय वे रेणु और महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली में दे चुके हैं।

इस पुस्तक में ऐसे कई प्रसंगों और तथ्यों का हवाला है जो हिंदी के पाठकों के लिए नया है और जिसका साहित्यिक महत्त्व भी है। खासकर 1941 और 1953 तक के बनारस में बिताए नामवर सिंह के जीवन के बारे में काशीनाथ सिंह भी अपनी चर्चित पुस्तक ‘घर का जोगी जोगड़ा’ में चुप रह गए थे। उनकी अपनी विवशताएं थीं। जिसे उन्होंने भारत यायावर को बताया भी—‘यार भारत यह काम तुम्हीं कर सकते हो।...भैया के उस दौरान के जीवन के विषय में मैं नहीं लिख सकता।’

भारत यायावर लिखित जीवनी नामवर



सिंह के बारे में कई जानकारियां देती है। मसलन 1940 में वे मिडिल की परीक्षा में फेल हो गए क्योंकि इतिहास के पत्र में शिवाजी पर इतना लंबा लेख लिखा कि बाकी प्रश्न छूट गए। कक्षा छह में इंग्लैंड पर हिटलर विजय को लेकर नामवर सिंह ने 'पुनीत' नाम से पहली कविता लिखी जिसकी अंतिम पंक्ति है—

चढ़्यौ बरतानिया पर हिटलर 'पुनीत'
ऐसे

जैसे गढ़ लंक पर पवन सुत कूदिगौ
उन्होंने पहली बार दो पुस्तकें खरीदीं
त्रिलोचन के कहने पर। पहली निराला की
'अनामिका' और दूसरी इलाचंद्र जोशी द्वारा
अनूदित गोरकी की 'आवास की डायरी'। नामवर
सिंह ने अपने जीवन में पहली और अंतिम
कहानी लिखी—'कहानी की कहानी' जो 'क्षत्रिय
मित्र' के मार्च 1945 के अंक में छपी।

नामवर बचपन से ही 'रामचरितमानस'
का पाठ करते थे। उन्हें धीरे-धीरे अधिकांश
मानस-अंश कंठाग्र हा गए। जब यूपी कॉलेज
में तुलसी जयंती मनाई गई तब उन्होंने इसमें
एक लेख पढ़ा—'समाज के अग्रचेता तुलसी'
यह जुलाई-अगस्त 1948 अंक में 'क्षत्रिय
मित्र' में छपा। यह नामवर सिंह का प्रथम
प्रकाशित निबंध था।

लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ठों वाली पुस्तक

में आधे से ज्यादा पृष्ठों में नामवर सिंह के
1955 तक के साहित्यिक जीवन का
लेखा-जोखा और खोजी खबरें हैं। इसमें उनके
कई दुर्लभ लेख, गीत और कविताएं पूरी की
पूरी प्रकाशित हैं जो शोधार्थियों के साथ-साथ
नामवर सिंह की आलोचना यात्रा को समझने
में भी मदद करती हैं। इसमें नामवर सिंह के
संघर्ष की झलक भी है और बनारस के मोहभंग
की मर्मांतक पीड़ा भी। बनारस से दिल्ली में
डेरा डालने की व्यथा-कथा, जनयुग की नौकरी,
जोधपुर प्रवास, नामवर-नवल और अग्नि स्नान
का प्रसंग। जे.एन.यू. की प्रोफेसरी और धूमिल
से जुड़े प्रसंग तो बेहद ही दिलचस्प बन पड़े
हैं। 'कवि धूमिल के मास्टर साहब' में नामवर
सिंह के बारे में धूमिल की एक टिप्पणी है
'नामवर का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता।
उनके बाप तक ने उनका इस्तेमाल कर पाने
में स्वयं को असमर्थ पा लिया। इस्तेमाल से
बचते रहना नामवर की आदत नहीं, तरकीब
का हिस्सा है। दिक्कत सिर्फ तभी होती है
जब तरकीब से दूसरी तरकीब निकालते रहने
की आदत का वे शिकार हो जाया करते हैं।' इतनी
तल्ल टिप्पणी करने वाले धूमिल को
नामवर सिंह छोटे भाई की तरह मानते थे।

नामवर सिंह एक प्रतापी आलोचक हैं।
पिछले छह दशकों से वे तमाम विरोधों-

असहमतियों, राजनीतिक-प्रपंचों के बाबत हिंदी
साहित्य के केंद्र में बने हुए हैं। जब लिखते
थे तब भी, और अब जब नहीं लिखते हैं और
वाचिक परंपरा को समृद्ध करने में लगे हैं तब
भी। ऐसे में उनके बारे में हर छोटी-बड़ी बातें
जानने की उत्सुकता सभी पाठकों में है। इस
निकष पर यह जीवनी पाठकों को तृप्त करती
है। भारत यायावर ने तथ्यों-प्रसंगों को जुटाने
में अथक परिश्रम भी किया है, जो दिखता है
और जिसके लिए वे जाने जाते हैं। लेकिन
क्या ही अच्छा होता कि जो परिश्रम और
खोजपरकता उन्होंने 1940 से 1958 तक
दिखाई वही बाद के सालों में भी दिखाई देती।
पुस्तक का उत्तरार्द्ध तुलनात्मक रूप से थोड़ा
कमजोर जान पड़ता है। साथ ही जीवनी में
नामवर के प्रति गद्गद् भक्ति भाव भी पुस्तक
को कमजोर करता है। वैसे कुल मिलाकर यह
पुस्तक महत्त्वपूर्ण है और इसलिए इसका हिंदी
साहित्य में स्वागत किया जाना चाहिए।

नामवर होने का अर्थ/भारत यायावर/किताबघर
प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, नई
दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 220 (पेपरबैक संस्करण)

संपादक 'पाखी', बी-107, सेक्टर-63, गौतमबुद्ध
नगर, नोएडा, उ.प्र., मो. : 09350544994

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक



अक्टूबर-दिसंबर 2012, मूल्य : ₹ 100



जनवरी-मार्च 2012 36, मूल्य : ₹ 50



जनवरी-फरवरी 2013, मूल्य : ₹ 20



ज्ञान शांति मैत्री

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

हिंदी कविता के संस्पर्श में उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श

श्रीकांत सिंह

य

ह खुशी की बात है कि अपने देश के विभिन्न महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में किसी प्रासंगिक, खास व मौजू विषय पर आजकल राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन होता है। कभी यह आयोजन यू. जी.सी. के आर्थिक सहयोग की मारफत होता है, तो कभी इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के वित्तीय सहयोग से। जिस उद्देश्य की संसिद्धि के लिए ये संगोष्ठियां होती हैं अथवा करवाई जाती हैं उसका निहितार्थ यही है कि प्रस्तावित विषय के माध्यम से ऐसा सार्थक संवाद उत्पन्न हो, जो संबंधित विषय, समय, समाज, साहित्य एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी और विकासकारक हो। यह कहने में मुझे कतई संकोच नहीं हो रहा है कि कभी-कभी ये संगोष्ठियां केवल रस्मअदायगी बनकर रह जाती हैं। खाने-पीने, मौज-मस्ती मनाने एवं कुछ हद तक फकत लफ्फाजी में सिमटकर रह जाती हैं। चूंकि, नौकरी में प्रोन्नति के लिए 'नेशनल सेमिनार' में भाग लेना अनिवार्यता है, अंकदायी है और शोधपरक पर्चे बांचना आवश्यक है। इसलिए, संबंधित लोग ऐसे सेमिनार करते-करवाते हैं। उनमें भाग लेते हैं। लेकिन, कभी-कभी ऐसी संगोष्ठियां भी होती दिखाई देती हैं जिनकी धमक दूर तलक व देर तक कानों में गूंजती रहती है। ऐसी संगोष्ठियों के सार्थक संवाद तब चिरस्थायी महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं, जब उनके आयोजक विभिन्न लेखों को कुशलतापूर्वक एक संकलन में संगृहीत करके उन्हें पुस्तकाकार छपवा देते हैं।

...आप पाठक कह सकते हैं कि इन पंक्तियों का लेखक यह जिक्र क्यों कर रहा है? इसका क्या औचित्य है? ऐसे में आप यह जान लें कि समीक्ष्य पुस्तक के अधिकांश लेख कभी इसी प्रकार की एक संगोष्ठी में पढ़े गए थे। इसके संपादक डॉ. पी. रवि साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने विभिन्न लेखों को दक्षतापूर्वक

एक पुस्तक में संगृहीत किया और 'उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श और हिंदी कविता' के नाम से प्रकाशित कराया है। स्वयं संपादक के शब्दों में—“उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श और हिंदी कविता” असल में हिंदी विभाग, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालटी द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत किए गए पर्चे हैं, दो-तीन आलेखों को छोड़कर।” (पृ. 10)। यह पुस्तक दो भागों में विभक्त है। भाग-एक में तीन लेख और भाग-दो में सत्रह लेख हैं। विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से जिन विद्वानों के लेख हैं, उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पी. पवित्रन, के.एम.जयकृष्णन, विनोद शाही, तरसेम गुजराल, वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, प्रमोद कोवप्रत, शमीम अलियार, शिवकुमार मिश्र, राजेंद्र कुमार, पी. रवि, के. राजेश्वरी, सी. सुजा, के.के. वेलायुधन, डॉ. षण्मुखन, वी.जी. गोपालकृष्णन, सुवास कुमार, वीरेंद्र मोहन, के.जी. प्रभाकरण एवं विजय कुमारन सी.पी.वी.। संपादक ने कायदे से भाग-एक में उत्तर औपनिवेशिक साहित्यदर्शन,



उसके सिद्धांत तथा इससे संबंधित हिंदी समीक्षा के बीज प्रश्नों को उद्घाटित करने वाले लेखों को रखा है। पुनः भाग-दो में आधुनिक हिंदी कविता के विविध साम्राज्यविरोधी स्वरो तथा प्रतिरोधी स्वरो को उपस्थापित किया है।

भारत के लिए यह दुर्भाग्य की बात रही है कि यह देश वर्षों-वर्षों तक बाह्य आक्रांताओं का गुलाम बना रहा। जिन-जिन लोगों के द्वारा यह गुलाम बनाया गया, उन्होंने इस देश को खूब लूटा-खसोटा। इसकी सभ्यता-संस्कृति-साहित्य-इतिहास को रौंदा-बर्बाद किया। अपनी सभ्यता-संस्कृति को जबरन इस देश पर थोपा। इस देश की यह जीवटता व खुशकिस्मती ही कही जाएगी कि अनेक बार गुलाम बनाए जाने के बावजूद, लूटे-खसोटे-बर्बाद किए जाने के बावजूद इसने अपने वजूद को बनाए रखा। लुटेरे बनकर यहां आने वाले तथा प्रच्छन्न रूप में व्यापारी बनकर अपनी मंडी फैलाने वाले लोगों ने भले कुछ लोगों को मिलाकर एवं फूट डालकर अपना उल्लू सीधा किया, लेकिन यहां का आम-अवाम कभी उन्हें स्वीकार नहीं कर पाया। बराबर किसी-न-किसी रूप में उनका विरोध करता रहा। प्रस्तुत पुस्तक के विभिन्न लेखों के माध्यम से जिस उत्तर औपनिवेशिक विमर्श पर प्रकाश डाला गया है और इसके वर्णन-विश्लेषण के लिए आधुनिक हिंदी कविता को माध्यम बनाया गया है, इसकी पृष्ठभूमि में उपर्युक्त यथार्थ का ही बीजांकुरण है।

गौरतलब है कि अंग्रेजी के 'Colony+' एवं 'Colonization+' का हिंदी रूपांतरण क्रमशः 'उपनिवेश' और 'उपनिवेशन' है। जहां उपनिवेश का अर्थ—दूसरे देश से आए हुए लोगों की बस्ती अथवा वह विजित देश जिसमें विजेता राष्ट्र के लोग आकर बस गए हों—है। वहीं उपनिवेशन का अर्थ अन्य देशों में जाकर अपनी बस्ती या उपनिवेश बसाने की क्रिया है। उपनिवेश संबंधी अथवा उपनिवेश में रहने वाला औपनिवेशिक कहलाता है। यह सच्चाई

है कि भारत कई सौ वर्षों तक अंग्रेजों का उपनिवेश बना रहा। उस काल में तो अंग्रेजों ने विभिन्न प्रकार से इस देश पर जुल्म ढाया ही, यहां से जाते-जाते और चले जाने के बाद भी इस देश को अपने षड्यंत्र का शिकार बनाया। मसलन, भाषा, सोच-विचार, खान-पान, पहनावा आदि के क्षेत्र में। औपनिवेशिक दौर में आधुनिक हिंदी कविता के रचनाकारों ने कहीं-कहीं प्रत्यक्ष तौर पर तो कहीं-कहीं परोक्ष तौर पर अंग्रेजों का विरोध किया। इस विरोध के कारण उन रचनाकारों को कई-कई बार जेल की सजा दी गई। अनेक यंत्रणाओं के भी वे शिकार बनाए गए। फिर भी वे डरे नहीं, झुके नहीं और अपने प्रतिरोधी स्वर को कम नहीं होने दिया। इस यथार्थ को इस पुस्तक के भाग-2 के आरंभिक लेखों में कई जगह उद्घाटित किया गया है।

इस पुस्तक के केंद्रीय कथ्य के रूप में अंग्रेजों के चले जाने के बाद भारतीय कर्णधारों के रंग-ढंग, आम-अवाम से उनका कटते जाना और अपनी राजनीतिक गोटियां लाल करना तथा मिला-जुलाकर उपनिवेशी मानसिकता में पड़े रहना है। जिस जरूरत की चाह में आजादी की लड़ाई लड़ी गई और लोग गुलामी मुक्त हुए, वह देश के सामान्य लोगों के लिए सचमुच की आजादी सिद्ध नहीं हो पाई। कुछ लोग खुशहाल होते गए और अधिकांश लोग उत्तरोत्तर तंगहाल होते गए। इस देश का प्रभु-वर्ग जाति, धर्म, संप्रदाय, क्षेत्रीयता, भाषा-भेद आदि के आधार पर सामान्य लोगों को बांटता चला गया और अपनी मौज मनाता रहा। तब भला उन अंग्रेजों और आज के रहनुमाओं में क्या अंतर? इसी अंतरस्वर को पकड़ने की कोशिश की है आधुनिक हिंदी कविता के रचनाकारों ने तथा उसी का पुख्ता प्रस्थापन है इस पुस्तक के विभिन्न लेखों में! हिंदी कविता ने अपने तथ्य-कथ्य में विश्वग्राम, वैश्वीकरण, उन्मुक्तीकरण, बाजार, विज्ञापन, शक्तिशाली देशों द्वारा कमजोर देशों पर आक्रमण, उनकी कर्जदाता की छवि, फिर कर्जखोर बनाकर उन देशों को अपने इशारे पर नचाना...जैसे षड्यंत्रों का पुरजोर पर्दाफाश किया है। किस प्रकार वैश्वीकरण के बढ़ते दौर में लोग बाजार के जादुई जाल में धंसते-फंसते जा रहे हैं, लोगों के दिल-दिमाग-आंख एवं जुबान परतंत्र बना दिए गए हैं, भारतीय गांव और किसान-मजदूर उत्तरोत्तर फटेहाल होते जा रहे हैं। किस प्रकार हर कोई इस उपनिवेशन के आखेट से मुक्त नहीं है, उसके मकड़ी-जाल में महज उपभोक्ता

बना दिया गया है। किस प्रकार विकास एवं सुविधा के नाम पर लोगों को लुभाया व फंसाया जा रहा है—इन सबकी खोज-खबर तफसील से हिंदी कविता में मौजूद है। इस खोज-खबर की बड़ी ही बारीक व्याख्या इस पुस्तक के अनेक लेखों में है। प्रत्यक्ष उपनिवेशन न सही, क्यों न उपर्युक्त अप्रत्यक्ष औजारों से ही भारत को शिकार बनाया जाए? जो बन रहा है वह इसे विकास, सुविधा और मजा मान रहा है, जो बना रहा है उसके मजा और मस्ती का तो कहना ही क्या? इसी द्वंद को इस पुस्तक के अधिकांश लेखों में उजागर किया गया है। इस पुस्तक के ये वाक्य गौर फरमाने लायक हैं—“भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में भूमंडलीकरण चल रहा है। मंडी का संबंध व्यापार एवं स्पर्धा से है, जो उपभोक्तावाद को बढ़ावा देता है।...मुनाफे की दौड़ में सबको कंज्यूमर कल्चर पसंद है। प्रौद्योगिकी के विकास के साथ प्रकृति का दोहन बढ़ गया है। साथ ही ब्रह्मांड का संतुलन बिगड़ने लगा है।” (पृ. 68)। इसी संदर्भ में शिव कुमार मिश्र के लेख के ये प्रारंभिक अंश भी गौरतलब हैं—“जिसे आज औपनिवेशिक समय कहा और विज्ञापित किया जा रहा है और जिससे जुड़े अध्ययन उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन के नाम से जाने जा रहे हैं। उनके पीछे भले ही यह समझ हो कि वैश्विक संदर्भ में, और हमारे राष्ट्रीय संदर्भ में भी, जो हमारे जाने-पहचाने उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद के समय से जुड़े अध्ययन हैं, वास्तविकता यह है कि न तो उपनिवेशवाद और उसका समय इतिहास बना है और न ही उनसे जुड़ी सोच। सच्चाई यह है कि हमारा जाना-पहचाना वही उपनिवेशवाद नए चेहरे में, नए मुखौटों के साथ, पहले से अधिक शक्तिशाली होकर उन सभी देशों की गर्दन पर सवार है जो बीते समय में कठिन स्वाधीनता संघर्षों से गुजरते हुए आजाद हुए थे, या आजाद माने गए थे। अतः हमारा समय उत्तर-औपनिवेशिक समय न होकर चेहरे पर तरह-तरह के मुखौटे चढ़ाए औपनिवेशिक समय ही है। उसके मंसूवे वही हैं, उससे जुड़ी सोच वही है, वैसी ही क्रूर और हिंसक—उसका रूप जरूर कुछ बदला हुआ है।” (पृ. 82)

समीक्ष्य पुस्तक के संपादक डॉ. पी. रवि के संपादन-कौशल की यह खासियत कही जाएगी कि उन्होंने सबसे पहले प्रस्तावित विषय के दर्शन एवं सिद्धांत पक्ष को उद्घाटित करने वाले लेखों को रखा है। ये लेख काफी

श्रमपूर्वक विषय की गहराई में पैठकर लिखे गए हैं। पुनः क्रम-क्रम से भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग तथा उसके बाद की प्रायः सभी काव्यधाराओं की मारफत उपर्युक्त विषय को विश्लेषित करने वाले लेख रखे गए हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गए विविध प्रकार के लेखों में एकसूत्रता, एकान्विति और केंद्रीय विषय को प्रतिपादित करने की एकतानता, इस पुस्तक की अन्य विशेषता कही जाएगी। शोधपूर्ण आलेखों के बीच-बीच में उद्धृत की गई कविता की पंक्तियां अथवा किसी विद्वान् के उद्धरण पठनीयता में गति प्रदान करने वाले हैं। निस्सन्देह, भिन्न-भिन्न लेखों के लेखक और इस पुस्तक के संपादक इस नाते बधाई के पात्र हैं।

...यों इस पुस्तक में प्रूफ संबंधी गलतियां भी दिखाई पड़ी हैं। कुछ शब्दों के प्रयोग में व्याकरणिक स्तर पर असावधानी भी देखी है। यथा, पृष्ठ 9 एवं 39 पर। ‘अहम’ जो अरबी का शब्द है, विशेषण-रूप में है और जिसका अर्थ महत्त्वपूर्ण होता है, उसे ‘अहम्’ (संस्कृत का शब्द, सर्वनाम, मैं) के रूप में लिखा गया है। ‘अनेक’ शब्द अपने आप में बहुवचन है, फिर भी पृष्ठ 9 पर ‘अनेकों’ लिखा गया है। पृष्ठ 82 पर ‘सोच’ का प्रयोग स्त्रीलिंग-रूप में है जबकि यह शब्द पुलिंग है। इस पृष्ठ पर दो जगह ‘जुड़ी सोच’ का प्रयोग है। पता नहीं, शिवकुमार मिश्र जैसे विद्वान् ने किस कारण से इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है। कुछ लेखों में ऐसे प्रसंगों का भी वर्णन है जो विषयांतर हैं अथवा प्रस्तावित विषय से इतर हैं। कुछ लेख ऐसे भी लगे, जो हैं तो बड़े अच्छे, लेकिन पुस्तक के शीर्षकीय/केंद्रीय कथ्य से रहित हैं। लगता है कि दो सौ पृष्ठों की पुस्तक बन जाए, इस नाते उन लेखों को इसमें शामिल कर लिया गया है।

बावजूद इसके, हिंदी कविता के संस्पर्श में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श करने और एक सार्थक संवाद रचने में यह पुस्तक सफल सिद्ध हुई है।

उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श और हिंदी कविता/संपादक : पी. रवि/आधार प्रकाशन, एस.सी.एफ., 267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113, (हरियाणा)/मूल्य : ₹ 300

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग, कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-20, (मगध विश्वविद्यालय), मो. : 09470466179

आत्मकथा के बहाने उपन्यास का सच

कमलेश सिंह

हिं

दी उपन्यास ने हमेशा असीमित पाठक वर्ग को हिंदी साहित्य से जोड़ा है। हिंदी उपन्यास की लोकप्रियता उपन्यास के जन्म के समय से ही हो गई थी। उपन्यास के शैली आधारित वर्गीकरण में सक्षम हस्तक्षेप आत्मकथात्मक उपन्यासों का रहा है। युवा आलोचक अभिषेक दुबे ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया के माध्यम से पाठकों को आत्मकथात्मक उपन्यासों के स्वरूप एवं विकास परिचय के साथ-साथ हिंदी के प्रमुख आत्मकथात्मक उपन्यासों का मूल्यांकन भी किया है। उपन्यास विधा में आत्मकथा के गुणों का समावेश करके लेखकों ने आत्मकथात्मक उपन्यासों का सृजन किया। पर यह ध्यान में रखना होगा कि आत्मकथात्मक उपन्यासों में प्रयुक्त आत्मकथा, लेखक की निजी न होकर उसके सृजित पात्रों की है।

युवा आलोचक अभिषेक की पुस्तक का पहला अध्याय है—उपन्यास का समाजशास्त्र। उपन्यास के आरंभ पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने उपन्यास को आधुनिक जीवन का गद्यात्मक महाकाव्य माना है। कार्ल मार्क्स, हीगेल से लेकर मैनेजर पांडेय तक उपन्यास के समाजशास्त्रीय चिंतन पर पुनर्प्रकाश डालने का प्रयास लेखक ने किया है। इसी अध्याय में लेखक ने उपन्यास और कविता की महत्ता का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए निर्दिष्ट किया है—‘कविता के प्रतिमानों से उपन्यासों की जांच-परख संभव नहीं है, कविता को टुकड़ों में बांटकर पढ़ा जा सकता है, उपन्यास को नहीं। उपन्यासों की समूची दुनिया के साक्षात्कार के बाद ही उसका आकलन किया जा सकता है।’ (पृ. 9)

पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा अध्याय है—‘आत्मकथा की संस्कृति और आत्मकथात्मक उपन्यास’। इस अध्याय में आत्मकथा एवं आत्मकथात्मक उपन्यासों के स्वरूपगत भेद पर प्रकाश डाला गया है।

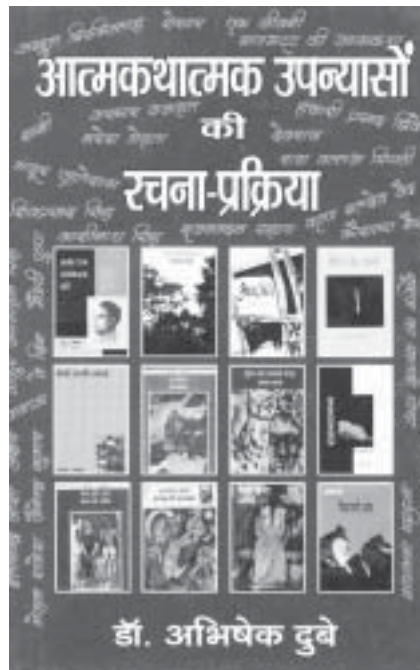
आत्मकथात्मक उपन्यासों को स्पष्ट करते हुए लेखक ने रामस्वरूप चतुर्वेदी, राजेंद्र यादव, कृष्णा सोबती, गोविंद मिश्र, विजय मोहन सिंह, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, रमेशचंद्र शाह, मैनेजर पांडेय, नंदकिशोर नवल आदि सभी आलोचकों एवं कथाकारों के कथनों का सृजनात्मक प्रयोग किया है।

तीसरे अध्याय में लेखक ने आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। हिंदी में आत्मकथा के आख्यानात्मक प्रयोगों के साथ ही भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियों से आत्मकथात्मक उपन्यास के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पश्चिम

के आलोचकों एवं कथाकारों जैसे—कॉम्पटन, बर्नेट, फ्लांबेयर, दोस्तोवस्की, राबर्ट लिडिल, एडवर्ड हैलेटकार, गोल्ड स्मिथ, रिचर्डसन, डी. एच. लॉरेंस आदि के आत्मकथात्मक उपन्यासों पर कथनों का प्रयोग करते हुए भारतीय एवं पश्चिमी दृष्टि से आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना प्रक्रिया को उभारा गया है।

प्रमुख आत्मकथात्मक उपन्यासों के अंतर्गत लेखक ने इक्कीस उपन्यासों का चयन किया है, जिसमें अधिकांश उपन्यासों की प्रसिद्धि को मूल्यांकन का आधार बनाया गया है। लेखक ने ठाकुर जगमोहन सिंह के ‘श्यामास्वप्न’ को हिंदी का पूर्ण एवं प्रथम आत्मकथात्मक उपन्यास माना है। इससे पहले कतिपय आलोचकों ने बाबू बृजनंदन सहाय के ‘सौंदर्योपासक’ को पहला आत्मकथात्मक उपन्यास माना था।

महत्त्वपूर्ण आत्मकथात्मक उपन्यास की शुरुआत ‘देहाती दुनिया’ से मानी जाती है, जिसके लेखक शिवपूजन सहाय ने इसमें आंचलिकता का रंग बिखेर दिया है। इलाचंद जोशी के ‘घृणामयी’ एवं जैनेंद्र कुमार के ‘त्यागपत्र’ उपन्यास का पुनर्मूल्यांकन करते हुए आत्मविश्लेषण एवं आत्मकथा के चौखटे में मस्तिष्क का नाटकीकरण जैसे निष्कर्ष देना आलोचक की गहरी समझ को प्रदर्शित करते हैं। किंतु ‘शेखर : एक जीवनी’ उपन्यास के पुनर्मूल्यांकन में लेखक ने बड़े आलोचकों के उद्धरणों की भरमार लगा दी, जहां लेखक की अपनी आवाज दब सी गई है। वहीं हिंदी के पाठकों को ‘शेखर : एक जीवनी’ के मूल्यांकन संबंधी बड़े आलाचकों के महत्त्वपूर्ण कथन एक जगह ही प्राप्त हो जाते हैं। लेखक ने इस उपन्यास को मनोविज्ञान के साथ-साथ स्वाधीनता संग्राम से भी जोड़ा है। ‘बाणभट्ट



की आत्मकथा' का लेखक के द्वारा जबर्दस्त मूल्यांकन, समीक्ष्य पुस्तक में हुआ है। आलोचक द्वारा उपन्यास से गृहीत यह कथन हिंदी के पाठक वर्ग में सदैव ऊर्जा भरता रहेगा कि— “सत्य के लिए किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।” धर्मवीर भरती के ‘सूरज का सातवां घोड़ा’ एवं ‘रुद्र’ काशिकेय के ‘बहती गंगा’ जैसे लघु आत्मकथात्मक उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए इनमें प्रयुक्त यथार्थ के ढांचे की चित्रात्मक प्रस्तुति को लेखक ने केंद्र में रखा है। ‘अंधेरे बंद कमरे’, ‘वे दिन’, ‘आधा गांव’—में लेखक ने मोहन राकेश, निर्मल वर्मा एवं राही मासूम रजा के रचनात्मक उत्स की पहचान की है। ‘गली आगे मुड़ती है’ एवं ‘नौकर की कमीज’ के मूल्यांकन में आधुनिकताबोध के औजारों से पोस्टमार्टम किया गया है। पंकज बिष्ट के ‘लेकिन दरवाजा’ एवं स्वयं प्रकाश के ‘बीच में विनय’ उपन्यासों में आई मार्क्सवादी छद्म नीतियों पर लेखक ने नकारात्मक मुद्रा अपनाई है। इस पूरी पुस्तक में मार्क्सवादी छद्म को आलोचक अभिषेक ने जगह-जगह उभारा है। इसकी अंतिम परिणति असगर वज़ाहत की ‘कैसे आगी लगाई’ उपन्यास में देखने को मिलती है। लेखक ने असगर वज़ाहत की रचनात्मक ऊर्जा का स्रोत विभूति नारायण राय के ‘कफ़्यू’ एवं ‘तबादला’ कृतियों के प्रभावस्वरूप देखा है। स्त्री विमर्श से संबंधित तीन रचनाओं—कृष्ण बलदेव वैद की ‘एक नौकरानी की डायरी’, प्रभा खेतान की ‘छिन्नमस्ता’ एवं मैत्रेयी पुष्पा की ‘कस्तूरी कुंडल बसै’—का मूल्यांकन भी किया है। उपन्यास मूल्यांकन में विशेष उपलब्धि साहित्य अकादमी से पुरस्कृत ‘कोहरे में कैद रंग’ उपन्यास की है, जिसके लेखक गोविंद मिश्र हैं, जिसमें नए एवं सशक्त स्त्री चरित्रों को उपन्यासकार के साथ-साथ आलोचक ने भी उभारा है। कुल मिलाकर औपन्यासिक महत्त्वपूर्ण कृतियों को समझने के लिए सरल-सीधी भाषा में डॉ. अभिषेक दुबे का यह रचनात्मक प्रयास है।

आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया/ डॉ. अभिषेक दुबे/राका प्रकाशन, 40ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद-211002/मूल्य : ` 250

6ए, कटरा रोड, इलाहाबाद-211002,
मो. : 9451053467

आलोचना

उपन्यास की भरसक पड़ताल

वंदना मिश्रा

‘उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास’ पुस्तक परमानंद श्रीवास्तव के समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों का संकलन है। जिनमें से कुछ निबंध खासे चर्चा में रहे हैं।

लेखक के सत्ताईस निबंधों का यह संग्रह जहां उपन्यास के सामाजिक सरोकारों एवं विविधरूपता से जुड़ा है वहीं स्थानीय आंचलिकता के बरक्स वैश्विक विमर्श के प्रश्न भी उठाता है।

लेखक का मानना है कि उपन्यास में सिर्फ किस्सागोई ज़रूरी नहीं है। उसे सामाजिक सरोकारों से भी जुड़ना चाहिए।

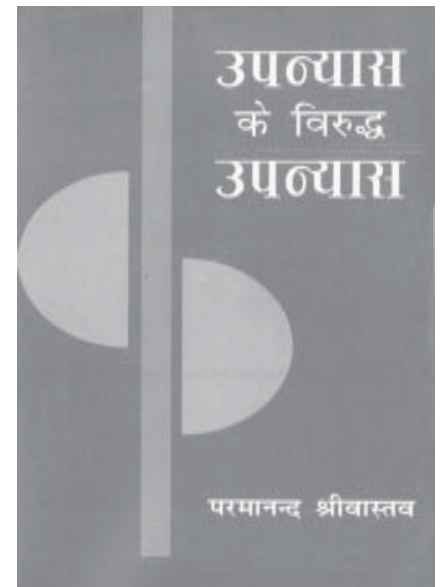
‘उपन्यास की सैद्धांतिकी/एक प्रतिविमर्श’ शीर्षक में लेखक उपन्यास को एक सामाजिक संस्था मानते हैं, जिसमें वृत्तांत का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमें यथार्थ होना ज़रूरी है पर सिर्फ यथार्थ नहीं फंतासी भी। ‘झूठा-सच’ एवं ‘त्यागपत्र’ को एक तरह से नहीं पढ़ा जा सकता है। लेखक महान उपन्यास को यूटोपिया की तरह मानता है। बाख़िन ने उपन्यास को कार्निवाल माना। लेखक का कहना है कि स्त्रीवादी उपन्यासों के कार्निवाल को चुनौती दी जा सकती है। नए औपन्यासिक विमर्श में यथार्थ के साथ अमूर्तन का भी अनादर नहीं है। मनोहर श्याम जोशी, उदय प्रकाश एवं विनोद कुमार शुक्ल को लेखक इसका उदाहरण मानता है। उदय प्रकाश के लघु उपन्यास ‘मैंगोसिल’ को एक घटना की तरह मानते हुए उसे उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास माना है। कथा में कथा का ध्वंस माना है। फंतासी की चरमता के कारण इसे प्रति उपन्यास माना है। लूकाच के कथन को (उपन्यास एक सीमित कथा में भी बड़ा स्पेस बनाता है) लेखक ‘मैंगोसिल’ पर चरितार्थ

मानता है।

अखिलेश की कथा ‘जलडमरूमध्य’ को ‘फेडरिक जेम्सन’ के ‘द पोलिटिकल अनकांशस’ के तनाव के नैरन्तर्य से जोड़ा है।

हर महत्त्वपूर्ण उपन्यास को लेखक ने अधूरा माना है जो पाठकों के बीच जाकर पूर्णतर बनता है। ‘मित्रो मरजानी’ को लेखक उपन्यास के रूप में एक क्रांति मानता है तो ओमप्रकाश वाल्मीकि के ‘जूठन’ को असंभव की क्षतिपूर्ति। टेरी ईगलटन ने यूं ही उपन्यास पढ़ने को राजनैतिक रणनीति नहीं कहा है।

परमानंद जी मार्क्वेज के ‘वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सालिट्यूड’ की चर्चा कर उसे विनोदपूर्ण आख्यानक घटना मानते हैं। आंडे ब्रेतो के कथन “उपन्यास सूचनापरक होने के कारण अधम कोटि की विधा है। जबकि संगीत एक उच्चतम कला है,” को लेखक भ्रम मानते हैं तथा उसके प्रतिपक्ष में काफ़का, आर्वेल और विनोद कुमार शुक्ल को रखते हैं। विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ एवं जोशी के ‘क्याप’



को उदाहरण मानते हैं।

वे उपन्यास के पाठ को बंद नहीं खुला मानते हैं। वह बहुत कुछ फिल्म स्क्रिप्ट की तरह है इसलिए नाटकीयता के लिए यहां अवकाश ही अवकाश है। वे मानते हैं गल्प को श्रेष्ठ उपन्यास बना देने में हजारी प्रसाद का कोई समकक्ष नहीं है। केवल इतिहास एवं व्याकरण की भूल बता देने वाले उपन्यास इसके जादू से अछूते हैं। विजयदान देथा इस रहस्य एवं जादूगरी से परिचित होने के कारण 'दुविधा' जैसी लोककथा को विलक्षण रूप में बदल सके। उनके अनुसार बड़ी कृतियां ही अपना शास्त्र बना पाती हैं, शास्त्रविद अंत तक जड़ सिद्धांतों के अधीन रहते हैं।

प्रति उपन्यास की अवधारणा में वे लिखते हैं—“देरिदा मानते हैं कि हर साहित्यिक कृति साहित्य के मानदंडों से धोखा करती है। जिस अर्थ में यथार्थवाद एक नहीं उसी अर्थ में उपन्यास भी एक नहीं। कथानकविहीन उपन्यास संभव हो गए परंतु प्रति उपन्यास को भी पठनीय और आस्वाद्य होना चाहिए।”

लूकाच ने तर्क के ध्वंस को औपन्यासिक कल्पना के लिए जरूरी माना। परमानंद जी 'बिल्लेसुर बकरिहा' को विखंडन में भी संरचना का संकेत देने वाली कृति मानते हैं। वे रेणु, नागार्जुन, कृष्णा सोबती को एक ही अर्थ में आंचलिक नहीं मानते हैं। विधाओं के घालमेल से काशीनाथ सिंह ने 'काशी का अस्सी' जैसा खिलदंडा उपन्यास लिखा। परमानंद जी ने माना कि फिक्शन होने के इंकार से संभव है, एक प्रति उपन्यास। यहां ऊंचाई-नीचाई सहज है। इसे यूटोपिया का विलोम मानते हैं। वहीं 'ऐ लड़की' में आत्मसजगता ही आत्मनिर्वासन या आत्ममुक्ति है।

उपन्यास को सामाजिक संस्था मानते हुए वे लिखते हैं कि प्रेमचंद जहां 'गोदान' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास लिख रहे थे वहीं महाजनी सभ्यता पर लेख भी लिख रहे थे। वे मानते हैं कि उपन्यास मध्यवर्ग का महाकाव्य है पर मध्यवर्ग भी एक ही नहीं है। 'आखिरी कलाम' और 'काशी का अस्सी' में वे सहमति-असहमति चरम पर मानते हैं। अतएव 'आखिरी कलाम' उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास है। 'पास्त्रनाक' के पत्रों की तरह वे गालिब के पत्रों में भी उपन्यास छिपा देखते हैं।

'कठगुलाब', 'चाक' एवं 'आंवा' स्त्री विमर्श के उपन्यास होकर भी उनके फेमिनिज्म में एकरूपता नहीं।

समाजशास्त्र जिसे तथ्य के रूप में देखता है प्रेमचंद जैसा कथाकार विडंबना के सहारे देखता है। वे लिखते हैं—हिंदी में अजब स्थिति है कि नई कहानी, नई कविता, नया नाटक, नई आलोचना जैसे पद प्रचलन में आ गए पर नया उपन्यास की अवधारणा नहीं बनी। बनी तब जब अरुंधती राय आदि लोकदृश्य पर छा गए। उपन्यास हर दौर में नया हुआ। (पृ. 36) नामवर सिंह 'कलि कथा वाया बाईपास' को सौ साल से चला आ रहा आर्किटेक्चर बदलने वाला उपन्यास कहते हैं तथा 'शेष कादंबरी' को उसके आगे की कृति। (पृ. 36)

महान कृतियां एक साथ वैश्विक और स्थानिक हो सकती हैं जैसे 'तकषी' का उपन्यास 'रस्सी'। वे इसे प्रतिरोध का वैकल्पिक मेटाफर मानते हैं। वे उपन्यास की सामाजिकता की कसौटी पाठकों की साहित्याभिरुचि को जड़ होने से बचाना मानते हैं। लोकप्रियता की कसौटी सार्थक पठनीयता को मानते हैं न कि बेस्ट सेलर होना। वे भारतीय उपन्यास का प्राणतत्त्व देशज का ठाठ मानते हैं। 'मैला आंचल' के नकल होने के विवाद हैं पर बड़ी कृतियां विवादास्पद होने पर भी महत्त्व अर्जित करती हैं। वे मानते हैं कि रेणु के उपन्यास में बिखराव बहुत है पर वही उसका शिल्प भी है। रेणु 1954 में लिखते हैं—“इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी, गुलाब भी, कीचड़ भी, मैं किसी से दामन नहीं बचाकर निकल पाया।” रेणु ने 'परती-परिकथा' में 'समाज-कंप' शब्द दिया है। (पृ. 56) उपन्यास कैसे अपने कथित अभिजात्य को तोड़ रहा है, यह 'राग दरबारी' व 'नाच्यौ बहुत गुपाल' में देखा जा सकता है। 'अनामदास का पोथा' को प्रति उपन्यास माना है। 'गणदेवता', 'पाथेर पांचाली', 'पद्मा नदीर मांझी' और 'ढोढाय चरित मानस' के साथ वैश्विक उपन्यास में ल्योसा के 'स्टोरी टेलर' को 'कथासरित्सागर' के समान मानते हैं। 'रेहन पर रग्धू' पारिवारिक मूल्यों के क्षय का आख्यान है। 'पहला गिरमिटिया' को एक चुनौती और 'विश्रामपुर का संत' को एक अनलिखा उपन्यास मानते हैं।

वे मानते हैं 'चाक' और 'अल्मा कबूतरी'

लिखकर मैत्रेयी ने उपन्यास के ढांचे को तोड़ा है।

'काला पादरी' (तेजिंदर) प्रश्न उठाने वाला उपन्यास है। 'दस द्वारे का पिंजरा' तथा 'तिनका-तिनके पास' में साल्वेशन और लिबरेशन दोनों हैं।

कुल मिलाकर उपन्यास विधा कैसे अपना रूप परिवर्तित कर रही है इसकी पूरी पड़ताल की है लेखक ने। वस्तुतः साहित्य लक्षणों में समा भी नहीं सकता। तकषी लिखते हैं—“उपन्यास के लिए नियत लक्षण 'रस्सी' में नहीं आ पाए होंगे। लक्षण युक्त करने का यत्न भी नहीं किया। जीवन लक्षणों के मानदंड के अंदर समा भी नहीं सकता।”

“दो और दो का जोड़ हमेशा चार कहां होता है, सोच समझ वालों को थोड़ी नादानी दे मौला।”

पुस्तक अत्यंत रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक है परंतु कुछ बातें खटकती हैं जैसे फकीर मोहन सेनापति के उपन्यास 'छमाण आठ गुंठ' को 'छह बीघा जमीन' तथा असगर वजाहत के 'जिन लाहौर नहीं देख्या' को 'जिसने लाहौर नहीं देखा' लिखना। नाम यदि अनुदित न किए जाते तो शायद ठीक होता।

इसी प्रकार 'निर्मला' परिवार के भीतर रही। सौतेले बेटे के मरने पर घर छोड़ा तो एक बड़ी शक्ति बनकर (62) दरअसल निर्मला ने कभी घर छोड़ा ही नहीं तोताराम ने छोड़ा था।

जैसे 'तमस' में “वह प्रकाशो का पति था जिसे अल्लाहरक्खा ने अपनी बेगम बना रखा था (पृ. 88) पर उपन्यास में प्रकाशो अविवाहित थी। जैसे यशपाल की 'मक्रील' कहानी में स्त्री अचानक मोहाविष्ट पुरुष का स्पर्श पाकर धारा में जा पड़ी। एक आकस्मिक ट्रेजिडी। कहानी अधूरी जान पड़ती है। (पृ. 94) दरअसल लड़की बड़ी उम्र के कुंठित कवि के प्रेम की परीक्षा देने के लिए 'मक्रील' में कूदती है। पर सत्ताईस निबंधों की इस पुस्तक में ऐसी छोटी-छोटी बातें हो सकती हैं। कुल मिलाकर पुस्तक पठनीय व ज्ञानवर्धक है।

उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास/परमानन्द श्रीवास्तव/लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, सिविल लाइंस, इलाहाबाद, (उ.प्र.)/मूल्य : ₹ 300

वरि. प्रवक्ता हिन्दी, जी.डी., बिनानी पी.जी., कॉलेज, मिर्जापुर-231001, मो. : 09415876779

मजदूर आंदोलन : एक इतिहास—एक जीवन

शिवरतन थानवी

य

ह एक अलग तरह की आत्मकथा है जिसके केंद्र में मुंबई के प्रसिद्ध गौरवशाली मजदूर नेता कॉ. गंगाधर चिटणीस हैं किंतु उनका निजी जीवन इसमें नहीं बराबर है। बल है तो राजनीतिक परिदृश्य पर और मजदूर आंदोलन पर। इस दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है। एक कर्मठ, आदरणीय और प्रतिभावान नेता के अनुभवों का खजाना है। मूल पुस्तक मराठी में है, दिलीप जोशी ने उसका हिंदी में अच्छा अनुवाद किया है।

कॉ. चिटणीस का सार्वजनिक जीवन एक संघर्षशील ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता के साथ-साथ निष्ठावान राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में भी रहा। ट्रेड यूनियन क्षेत्र में 'एटक' (AITUC) के कार्यकर्ता थे तो राजनीति में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के। इसलिए इस आत्मकथा में इन दोनों क्षेत्रों के अनुभवों का विस्तृत विवेचन है। कॉलेज की शिक्षा पूरी कर वे भारत सरकार में नौकरी करने लगे फिर साने गुरुजी के प्रभाव और कार्ल मार्क्स के साहित्य की प्रेरणा से छह साल बाद नौकरी छोड़ दी और समाज-सेवा के उद्देश्य से कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता बन गए। पहले कार्यालय सचिव का काम किया, उसके बाद ट्रेड यूनियन आंदोलन में सम्मिलित हो गए। पार्टी कार्यालय में काम करने के दौरान मिल मजदूर और गिरणी कामगार यूनियन के बारे में काफी कुछ जान चुके थे। जब पार्टी कार्यालय छोड़ा तो इनके साथ ही काम करने लगे। यह काम इन्होंने 25 साल तक किया।

एक समय था जब मिल उद्योग और गिरण गांव (मिलक्षेत्र) में कम्युनिस्टों का एकछत्र राज था। कॉ. चिटणीस लिखते हैं—

“अनेक संघर्षों, अनेक आहुतियों के फलस्वरूप उन्होंने कामगारों के लिए अनेक आर्थिक व संगठनात्मक विजय हासिल की थीं। पूरे मिल उद्योग का स्टैंडाइजेशन कर उन्हें

सूचकांक से जुड़ा महंगाई भत्ता दिलाया, बोनस दिलाया, यूनियन की मान्यता दिलाई। स्त्रियों को मिलों में काम करने का उचित सुरक्षात्मक वातावरण मिला। सांप्रदायिक दंगे बंद हुए और श्रमिकों को एक आदमी के रूप में रहने की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। मुंबई का मिल मजदूर पूरे देश के श्रमिक वर्ग का नेतृत्व बना।”

कॉ. गंगाधर चिटणीस की गिरणी कामगार यूनियन एक बड़े परिवार जैसी थी। यह यूनियन राजनीतिक प्रशिक्षण का भी एक केंद्र थी। श्रमिक आंदोलन में कॉ. चिटणीस ने करीब छह दशक तक जमकर काम किया। ट्रेड यूनियन में भी और कम्युनिस्ट पार्टी में भी उसी निष्ठा से कार्य किया। मुंबई गिरणी कामगार यूनियन के चौदह वर्ष सहसचिव और तीस वर्ष प्रधान सचिव रहे। महाराष्ट्र एटक के दो वर्ष सहसचिव, दस वर्ष प्रभारी सचिव, तेईस वर्ष प्रधान सचिव और उसके बाद बारह वर्षों तक अध्यक्ष रहे। इस काल में इस मोर्चे के सभी कार्यकर्ताओं से इनका निकट का रिश्ता रहा। इनमें प्रमुख थे—कॉ.

पाटकर, कॉ. गुलाबराय गणाचार्य, कॉ. बाबूराव जगताप, कॉ. कृष्णा देसाई, कॉ. भगवान थोरात और कॉ. सीताराम जगताप। पार्टी कार्य और मजदूर आंदोलन ही इनका जीवन था।

पत्नी थी, बच्चे थे, परिवार की जिम्मेदारियां भी थीं, किंतु निजी जीवन का कोई खास वर्णन इन्होंने इस पुस्तक में नहीं किया है। मात्र इतनी सी शुरू में झलकी दी है कि पढ़ने में प्रवीण थे, छात्रवृत्तियां भी पाते थे, लेकिन ज्यादा ध्यान राजनीतिक अध्ययन की ओर अधिक था। उसी अध्ययन से समाज प्रेम, देशप्रेम का बीज पड़ा और समाज सेवा की ओर ऐसे प्रवृत्त हुए कि अपनी बी.कॉम. की डिग्री लेने भी नहीं गए। नौकरी की थी किंतु समाज सेवा की धुन ऐसी लगी कि नौकरी छोड़ बिना किसी आय के भी पार्टी कार्यालय में तन तोड़कर काम करने लगे। अधिक कृशकाय होने लगे तब कॉ. डांगे की पत्नी ने ध्यान दिलाया और पार्टी ने उन्हें साठ रुपये प्रति माह मानदेय देना शुरू किया। अपने नए ऐसे अस्थिर संघर्षशील जीवन की छाया उनके परिवार वालों के शांत व स्थिर जीवन पर न पड़े इस उद्देश्य से अपने निवास दादर से लोअर परेल, डिलाइल रोड के शिवाजी नगर मोहल्ले में आकर रहने लगे थे। मकान छोड़कर तपती दोपहरी में आवश्यक सामान ठेले पर लादकर निकले थे। ठेले वाला बूढ़ा था। दीपक सिनेमा आने से पहले वह थक गया, खांसने लगा व रुक गया। आखिर कॉ. चिटणीस भी ठेला ढकेलने लगे। लोअर परेल का पुल चढ़ने तक वह आगे और चिटणीस पीछे, ऐसे ठेलागाड़ी चली। ‘सर्वहारा’ को साथ देने के जीवनक्रम की चिटणीस की शुरुआत जो हो चुकी थी।

जब नौकरी की थी तो आफिस वालों के दिल में इनकी छवि एक होशियार, कार्यशील, ईमानदार, अच्छी आदतों वाले, परिवारवादी, सीधे रास्ते पर चलने वाले और उज्वल भविष्य



के धनी युवक की बनी हुई थी। परिवारवादी होने का सबूत यह था कि जब नौकरी लगी तब इन्हें बहनों की शादी और भाइयों की शिक्षा का विचार सताया करता था। इसीलिए पहला वेतन मिलते ही रेलवे पास के लिए पांच रुपये अपने पास रखकर बची हुई राशि पिताजी को भेज दिया करते थे। पिताजी के देहांत के बाद भाई-बहन मुंबई आ गए व मनीऑर्डर भेजने की आवश्यकता नहीं रही।

देश को स्वतंत्रता मिली थी लेकिन विभाजन की कीमत पर। दंगा-फसाद में डेढ़-दो लाख मारे गए थे और लाखों का जीवन बर्बाद हुआ था। निर्वासितों की मदद के लिए सरकार ने और स्वयंसेवी संगठनों ने राहत शिविर लगाए थे। ये भी कुर्ला, चेंबूर और कल्याण-उल्हासनगर में स्वयंसेवक के रूप में जाने लगे। रोज ऑफिस के बाद रात्रि बारह बजे तक काम करके लौटना इनकी दिनचर्या बन गई। ऐसा सच्चा सेवाभाव था इनके मन में देश के प्रति। साने गुरुजी के साहित्य का इन पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि भावी जीवन का विचार करते समय मां-बाप, भाई-बहन का विचार एक तरफ प्रमुखता से करते तो दूसरी ओर यह विचार धूमिल होकर देश व देश की दरिद्र जनता का विचार प्रबलता से जाग जाता। ऐसे जीवन की तैयारी के लिए इन्होंने पहले चाय-कॉफी त्यागकर खादी पहनना शुरू किया, फिर खादी के अर्थशास्त्र से मतभेद होने से खादी का त्याग किया। किंतु चाय-कॉफी का त्याग कायम रखा। और मार्क्सवादी साहित्य पढ़ने लगे।

व्यक्तिगत जीवन की ऐसी ही कुछ झलकियां देकर ये सीधे सामाजिक कर्म-जगत की अर्थात् राजनीति की बात शुरू कर देते हैं। इनकी पत्नी ने इनसे कहा था ये इस आत्मकथा में निज जीवन का चित्रण नहीं करेंगे। इसलिए पुस्तक जहां समाप्त होने लगती है वहां ये हमें बताते हैं कि पत्नी ने ऐसा कहा था इस कारण निज जीवन के प्रसंगों को इन्होंने इस आख्यान से दूर रखा है। मात्र इन अंतिम पृष्ठों में ऐसा सूचित करने के बाद ये हमें इतनी सी खबर देते हैं कि, “यह सफरनामा अच्छा रहा। सफरनामे में सहयोगी व साथी भी अच्छे मिले। इनमें से अनेकों का मैंने पहले ही उल्लेख किया है। नहीं किया तो केवल एक का—जिसने मेरे सफरनामे में शुरू से अब तक सर्वार्थ से साथ दिया—मेरी सहयोगी-साथी—

मेरी पत्नी मीरा। उसके स्पष्ट निर्देश कि ‘आपके लेखन में मेरा और अपने निजी जीवन का कोई उल्लेख नहीं आना चाहिए’ के कारण मैं केवल इतना कहूंगा कि उसके समर्पित भाव से ही यह सफरनामा ‘एक सुहाना सफर’ बना।”

चिटणीस का एक ही पुत्र है—चंद्रशेखर। बहू है नीना (सुवर्णा) और पोता है अमित। इनमें से कोई राजनीति में नहीं है लेकिन पार्टी के उद्देश्य और वाम आंदोलन को उनका समर्थन है। फुरसत का समय चिटणीस उनके सुखद साथ में बिताया करते थे।

मात्र इतना ही कुछ इन्होंने अपने निजी जीवन का परिचय दिया है बाकी सब कुछ देश के राजनीतिक परिदृश्य तथा मजदूर संगठनों के संघर्षशील जीवन की कहानी है। और यह कहानी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि ये उसमें आकंठ डूबे हुए थे। शीर्षस्थ सरगर्मियों से गहरे वाकिफ थे। पूर्वी पाकिस्तान से हुए संघर्ष का प्रारंभ हो या आपात्काल में पार्टी की भूमिका का, भटिंडा परिषद हो या विजयवाड़ा परिषद, पार्टी के भीतर चली चर्चा, वाद-विवाद, मतभेद और फूट की बारीकियों के भीतर तक गवाह रहे थे। इसलिए इन्होंने विस्तार से विश्लेषण किया है कि आपात्काल में पार्टी का कौन-सा निर्णय सही था और कौन-सा गलत था। डॉ. डांगे का मत था कि आपात्काल का समर्थन करना तत्कालीन परिस्थितियों में सुसंगत था और उस दौरान पार्टी की नीतियों के अनुरूप था। कुछ इस मत के थे कि मूलतः समर्थन देना ही अनुचित था। केंद्रीय कार्यसमिति में इन मतभेदों पर एकमत न हो पाने से पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् में इन मतभेदों पर लड़ाई हुई। जोरदार चर्चा हुई। दोनों ओर के, सभी राज्यों के, लोग बोले किंतु डॉ. डांगे कुछ भी नहीं बोले। मतदान हुआ। राष्ट्रीय परिषद् की भूमिका बहुमत से पास हुई। निष्कर्ष निकला कि पार्टी ने आपात्काल को जो समर्थन दिया था वह गलत था।

किंतु डॉ. चिटणीस को यह बात पसंद नहीं आई। कट्टरपंथियों द्वारा सत्ता पर कब्जा कर लेने का खतरा पैदा हो गया था, ऐसा राजनीतिक रिपोर्ट में मान्य कर लेने के बाद, इंदिरा जी ने यदि सवैधानिक प्रावधानों का उपयोग कर आपात्काल घोषित किया था तो इसमें उनकी क्या गलती थी? तत्कालीन

स्थितियों में इंदिराजी के समक्ष दो ही विकल्प थे—चुपचाप बैठकर कट्टरपंथी शक्तियों को सत्ता का समर्पण या आपात्काल घोषित कर स्थिति का सामना करना। चिटणीस कहते हैं कि आपात्काल को शुरू में दिया गया समर्थन सही था। तत्कालीन परिस्थितियों में वही उचित था। इंदिराजी की सरकार गिराकर प्रतिगामी शक्तियां सत्ता काबिज करने हेतु तत्पर थीं। उन्हें यह चुपचाप बैठकर करने देना क्या लोकतांत्रिक आंदोलन के लिए उचित था? चिटणीस का मत है कि शुरू में दिया गया समर्थन उचित व आवश्यक था किंतु आवश्यकता से अधिक समर्थन जारी रखना गलत था। जिस क्षण आपात्काल की धार प्रतिगामी वर्ग व शक्तियों से हटकर श्रमिक वर्ग और लोकतांत्रिक शक्तियों के विरोध में उनकी ओर मोड़ी गई उसी क्षण आपात्काल को दिया समर्थन वापस लेकर नागरिक स्वतंत्रता के संघर्ष हेतु लड़ने के लिए उनकी पार्टी और मजदूर आंदोलन को तुरंत खड़ा हो जाना था। वह क्षण उनकी पार्टी पहचान ही नहीं पाई और यहां उनकी राजनीतिक अपरिपक्वता साबित हुई। यदि ऐसी भूमिका ली जाती तो शायद यह विवाद इतना उग्र रूप नहीं लेता। शायद डॉ. डांगे भी इससे सहमत होते और राष्ट्रीय परिषद् की रिपोर्ट के समर्थक भी। पंजाब के सर्वमान्य नेता सत्यपाल डांगे ने इसी आशय का प्रस्ताव रखा भी था किंतु वह मान्य नहीं किया गया। ऐसी वास्तविक भूमिका यदि ली जाती तो शायद अगला इतिहास कुछ और ही होता।

पार्टी में गुटबाजी बढ़ती गई। विरोध-विवाद गहराते चले गए। चिटणीस ने इसे नाम दिया है ‘दुस्साहसवाद’ जिसके कारण पार्टी के एक पक्ष में चरम अतिवादी व्यवहार पनप गया था। डॉ. डांगे के अनुसार इसका कारण अंतरराष्ट्रीय कम्यूनिस्ट आंदोलन में हुई फूट में खोजना चाहिए। एक की बजाय दो पीठ तैयार हो चुकी थीं। दोनों में छत्तीस का आंकड़ा। विजयवाड़ा परिषद् के पश्चात् काम की गति बन नहीं पा रही थी। नेताओं के बीच वही मतभेद। उल्टे दरारें और मजबूत होती गई। डॉ. अजय घोष की जिम्मेवारी बढ़ गई। दोनों गुटों को एक रखने के प्रयासों में उनकी कार्यक्षमता व पूरा समय खर्च हो रहा था। वे त्रस्त हो गए थे। कम लोगों को ज्ञात होगा कि

कों. अजय घोष भगत सिंह के साथी थे। भगत सिंह, राजगुरु व सुखदेव के साथ वे भी पकड़े गए थे, किंतु आयु कम होने से फांसी से बच गए थे। शहीद भगत सिंह की विरासत को लेकर वे पार्टी में आए। वाम दुस्साहसवाद की गलतियां सुधारने में कों. डांगे, कों. घाटे के साथ उनका भी बड़ा योगदान था। वाम दुस्साहसवाद के विरोध में हमेशा उन्होंने संघर्ष किया। साथ-ही-साथ पार्टी की एकता कायम रखने हेतु सतत प्रयास भी किए।

अब दो शब्द गुटों पर। पार्टी की कलकत्ता परिषद् तक कों. रणदिवे ने संगठन में अपना स्थान मजबूत कर लिया था। सचिव पद पर कों. रणदिवे के चुनाव का कों. डांगे ने विरोध नहीं किया था। चिटणीस पूछते हैं—क्यों? क्या कारण था? वे पार्टी के महत्वपूर्ण नेताओं में से एक थे। संस्थापक सदस्य थे। फिर उनका जनता में विशेष स्थान था। किंतु उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में उन नीतियों का विरोध नहीं किया जो पार्टी को अतिवाम एकांगी दुस्साहसवाद की तरफ ले जा रही थीं। पार्टी ने एक गलती और की थी। वह 1930 में गांधीजी के दांडी सत्याग्रह से दूर रही। पार्टी ने तब सोचा था कि कांग्रेस पूंजीपतिवर्ग की पार्टी थी और गांधीजी पूंजीपति वर्ग के नेता। उनके द्वारा शुरू किए हुए संग्राम में मजदूर वर्ग की पार्टी का उनके पीछे-पीछे जाने का मतलब होगा अपनी स्वतंत्र छवि को नकारना, कालिख पोतना। चिटणीस कहते हैं कि ऊपरी तौर पर यह आकलन आसान लगने के बावजूद सही नहीं था। कारण यह कि कांग्रेस यद्यपि पूंजीपतिवर्ग की पार्टी थी किंतु अभी वह ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग से लड़ने हेतु खड़ी थी। कम्युनिस्ट केवल पूंजीपतिवर्ग के विरोध के नाम पर स्वतंत्रता संग्राम से दूर रहे। यह 'शुद्धता' एकाकीपन लाई, समाज या समुदाय से संबंध टूटा, और इसी के परिणामस्वरूप एटक तोड़कर 'लाल एटक' (RedAITUC) ने 1929 की अलिखित हड़ताल की घोषणा कर, उसे लंबा खींचकर, बलशाली गिरणी कामगार यूनियन का सत्यानाश किया था।

पार्टी ने 1942 में भी फिर भूल की। उस स्वतंत्रता संग्राम के समय अंतरराष्ट्रीय संदर्भ आड़े आया। फासिज्म को रोकने का कम्युनिस्टों का अंतरराष्ट्रीय कर्तव्य और देश के स्वतंत्रता संग्राम में खुद को झोंक देने का

राष्ट्रीय कर्तव्य—इन दोनों के द्वंद में दोनों का तालमेल साध न सके और न प्राथमिकता तय कर सके। अंतरराष्ट्रीय कर्तव्य को अग्रणी रख राष्ट्रीय कर्तव्य को पीठ दिखाई, पीछे छोड़ा। स्वाभाविक था कि जनता ने भी इन्हें पीठ दिखाई, पीछे छोड़ दिया।

कलकत्ता कांग्रेस में कों. डांगे ने सोचा था कि अभी विरोध करूंगा तो पार्टी वाले उनके इस विरोध का कारण समझ नहीं पाएंगे। नई नीतियां विनाशकारी रूप में स्पष्ट सामने आईं तब कों. डांगे ने कों. अजय घोष व कों. घाटे से विचार-विमर्श कर तीनों का संयुक्त वक्तव्य पार्टी नेतृत्व के पास देवली कारावास से भेज दिया, किंतु तब तक पार्टी में अंदरूनी चर्चाओं के द्वार बंद हो चुके थे। अंततः कम्युनिस्टों के अंतरराष्ट्रीय सूचना केंद्र (कॉमिंफोर्म) द्वारा प्रकाशित पत्रिका में इन नीतियों पर समीक्षात्मक एक लेख प्रकाशित हुआ तब पार्टी के सचिव के प्रति असंतोष व क्रोध का विस्फोट हुआ। फलतः विवादास्पद नीतियां भी गईं और कों. रणदिवे भी सत्ता से बेदखल हुए, लेकिन गुटबाजी की विरासत छोड़कर। नियम तोड़कर तानाशाही व्यवहार करने के आरोप में कों. रणदिवे को पार्टी से तीन वर्षों के लिए निलंबित कर दिया गया।

कों. रणदिवे मानते थे कि स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है तो अब समाजवाद के लिए लड़ाई शुरू करना चाहिए। लोकतांत्रिक क्रांति और समाजवादी क्रांति, दोनों का तालमेल कर अगला आंदोलन करना चाहिए। अन्वियों का मानना था कि लोकतांत्रिक क्रांति के कार्य अभी अपूर्ण थे। कम्युनिस्ट पार्टी 1942 के आंदोलन की अपनी भूमिका के कारण जनता से दूर, काफी एकाकी थी। ऐसी अवस्था में समाजवादी क्रांति के सपने देखना बड़ी भूल थी। इस भूल के स्पष्ट दिखते परिणामों के बावजूद उसे एकांगी मार्ग से घसीटते हुए आगे ले जाना—तैयारी करना, उस दिशा में कदम बढ़ाना—ये सब एक के बाद एक बड़ी गलतियां थीं। किंतु पार्टी ने ये सब गलतियां कीं। पार्टी ने कीं, कहने की बजाय, कों. रणदिवे ने कीं, ऐसा कहना अधिक उचित होगा क्योंकि पार्टी के अंदरूनी लोकतंत्र का गला घोट कर, पार्टी संगठन का पूरा ढांचा ध्वस्त कर, गुटबाजी अपना कर, पार्टी की पूरी सत्ता उन्होंने अपने हाथों में केंद्रित कर ली थी। इन गलतियों के

परिणाम भयंकर हुए। संगठन चरमरा गया। तभी अंततः वह परिवर्तन आया जिसमें कों. रणदिवे निलंबित हुए।

पार्टी की इन भीतरी हलचलों का असर मजदूर संगठनों की गतिविधियों पर भी पड़ता था। आइए एक नजर उन पर भी डालें क्योंकि कों. चिटणीस मजदूर नेता ही थे। पहले पार्टी कार्यालय में कों. डांगे के साथ काम करते थे। फिर उनकी अनुमति लेकर मजदूर संगठन में आ गए। आए लेकिन ऑफिस का टेबवर्क नहीं छूटा। रात 12 बजे पाली छूटती तब और सुबह पाली छूटती तब वे मिल के फाटक पर सभा कर लेते और भाषण देते। सुबह छह बजे सभा, सात बजे सभा, दस बजे दफ्तर, पत्राचार। दोपहर मजदूरों से उनकी समस्याओं पर चर्चा। फिर तीन व साढ़े तीन बजे की सभाएं। यूनियन का संघर्ष-क्रम यों चलता रहा।

एक दिन कों. डांगे के घर वे कुछ कागजात देने गए तो गिरणी कामगार यूनियन की दो हस्तियों से उनका परिचय कराया गया—कों. पाटेकर और कों. तांबिस्कर। इन्हीं नेताओं के साथ वे मजदूर आंदोलन में आगे बढ़े। डांगे के घर पर एक दिन उनकी पत्नी उषा ताई ने चिटणीस से पूछा, 'सरकारी नौकरी छोड़कर इधर आए? कौन गुरु मिला तुम्हें?' कों. चितले पास बैठे थे। इन्होंने उत्तर दिया, 'मार्क्स'। मार्क्स की प्रेरणा से ही वे कम्युनिस्ट पार्टी में और मजदूर आंदोलन में आए थे। उस समय मिल मजदूरों की और मजदूर आंदोलन की स्थिति चिंताजनक ही थी। मिल मजदूरों पर आक्रमण की, कार्य में बढ़ोतरी की, योजनाएं पकती ही रहती थीं। मजदूर यथाशक्ति प्रतिरोध कर रहे थे। सायमन कमीशन और गोलमेज परिषद् के बाद 1935 का कानून बना। अधिकतर राज्यों में कांग्रेस की सरकारें बनीं। कों. डांगे जेल से रिहा हुए। बिटिया मिल आंदोलन हुआ। यह रुईया सेठ की मिल थी। मिल का असली नाम 'फिनिक्स मिल' था। कों. डांगे पहुंच गए। डांगे को देखते ही गृहमंत्री क.मा.मुंशी भड़क गए। वे एक नंबर के कम्युनिस्ट विरोधी, पूंजीपति समर्थक व दक्षिणपंथी थे। बोले—कम्युनिस्टों की दादागिरी, गुंडागर्दी, इस प्रदेश में मैं चलने नहीं दूंगा। कों. डांगे ने सुभाष बाबू को बुलाया। वे उन दिनों कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने श्रमिकों की मांगों को व हड़ताल को खुला समर्थन

दिया। छह माह हड़ताल चली। आखिर सम्मानजनक समझौता हुआ।

महायुद्ध हुआ 1939 में तब कम्युनिस्टों ने युद्धविरोधी सार्वजनिक हड़ताल का नारा दिया। हड़ताल शतप्रतिशत सफल हुई। पूरी पूंजीवादी दुनिया ने इसका संज्ञान लिया। लेना जरूरी भी था। युद्ध शुरू हुआ, महंगाई बढ़ी तो महंगाई भत्ता बढ़ाने की गिरणी कामगार यूनियन की मांग हुई। संघर्ष हुआ। महंगाई भत्ता बढ़ा। बाजार में भाव लगातार बढ़ रहे थे, बार-बार यूनियन को संघर्ष करना पड़ रहा था। अतः मांग की गई कि महंगाई भत्ता मूल्य सूचकांक से जोड़कर दिया जाए अर्थात् महंगाई के साथ भत्ते में अपने आप वृद्धि। हड़ताल हुई। बारह आहुतियां देनी पड़ीं। सैद्धांतिक रूप से इसे मान्यता मिली। महंगाई भत्ता बढ़ा। पूंजीपति वर्ग से बल्लभभाई पटेल की गुफ्तगू हुई और 3 मई 1947 को इंटक (इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस) की स्थापना की गई।

इस पृष्ठभूमि में कॉ. चिटणीस ने मजदूर आंदोलन में काम शुरू किया था। एक हड़ताल हुई 1950 में, वह टूटने के बाद समाजवादियों में मतभेद तीव्र होते गए। अशोक मेहता की सुधारवादी नीतियों के खिलाफ संघर्षवादी कार्यकर्ताओं में असंतोष था। परिणाम यह हुआ कि वाम समाजवादी गुट तैयार हो गया। नेतृत्व किया इनका अरुणा आसफ अली और ए. नारायणन् आदि ने। यह समाजवादी गुट भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया। इसलिए मजदूर यूनियन की एकजुटता सरल हो गई। बापूराव जगताप और गुलाबराव गणाचार्य मुंबई के मजदूर आंदोलन में प्रमुख थे। वे बाहर आ गए। कॉ. पाटकर 1950 में विधायक चुने गए उससे पहले और बाद में भी उनका मजदूरों के प्रमुख नेताओं में से रामभाऊ भोगले, बाबूराव जगताप और गुलाबराव गणाचार्य से सतत् संपर्क बना रहा। नई यूनियन के अध्यक्ष बने बापूराव जगताप और जनरल सेक्रेटरी बने कॉ. पाटकर। पहले पगार के दिन ही 22 हजार मजदूरों ने यूनियन की सदस्यता ग्रहण की।

संयुक्त महाराष्ट्र समिति ने 1957 में कांग्रेस को पराजित किया। मजदूरों की मृतप्राय आशा-आकांक्षाओं में नए अंकुर आए। एक विचार प्रबल हुआ कि क्यों नहीं 'संयुक्त

महाराष्ट्र समिति' की तर्ज पर संयुक्त यूनियन बनाई जाए। शेतकरी कामगार पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी तथा प्रजा समाजवादी पार्टी आदि पांच पार्टियां मिलकर नई यूनियन बनने वाली थी किंतु प्रजा समाजवादी विरोध करने लगे। एस.एम. जोशी ने उन्हें समझाया। निर्णय हुआ कि सभी को उचित प्रतिनिधित्व मिले। तदनुसार एस.एम.जोशी अध्यक्ष और कॉ. एस. ए.डांगे जनरल सेक्रेटरी बने। नाम तय हुआ 'मुंबई गिरणी कामगार यूनियन'। महाराष्ट्र एटक का 1960 में वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें डॉ. जोगलेकर अध्यक्ष, कॉ. धुमे जनरल सेक्रेटरी और कॉ. चिटणीस सेक्रेटरी चुने गए।

नंबूदरीपाद का गुट केवल जेल में बंद नेताओं की रिहाई चाहता था। कॉ. डांगे ने नया माहौल, नई चेतना, नया निर्माण करने के उद्देश्य से मांग में कई और मुद्दे भी जोड़े जो देश भर में फैले असंतोष से संबंधित थे जैसे अनिवार्य बचत (जमा) योजना को रद्द करना तथा बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना, आदि। तय हुआ कि एक करोड़ हस्ताक्षरों वाला प्रतिवेदन और एक लाख लोगों का मोर्चा संगठित कर संसद के समक्ष ले जाना। जनता का भरपूर समर्थन मिला। पार्टी का वातावरण भी बदला। मोर्चा अत्यंत सफल रहा। पं. नेहरू ने स्वयं संसद भवन से मोर्चा देखा। अनिवार्य बचत योजना रद्द हुई।

महंगाई तेज गति से बढ़ रही थी किंतु महंगाई भत्ता बढ़ने की गति धीमी थी। महसूस सब कर रहे थे लेकिन कोई कारण समझ नहीं पा रहा था। महंगाई का सूचकांक सरकार घोषित करती थी। कहीं गड़बड़ जरूर थी, किंतु कहां? कम्युनिस्ट ढूंढ पाते उससे पूर्व ही संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के मधु लिमए ने इस गलती का पता लगा लिया। सूचकांक निकालने में गलती तो क्या, चोरी ही थी। कॉ. डांगे ने कहा समाजवादियों द्वारा उठाया गया मुद्दा उचित है। हड़ताल जोरदार हुई। सरकार को जांच बिठानी पड़ी। सूचकांक में 28 प्वाइंट की त्रुटि निकली। त्रुटि में सुधार हुआ। महंगाई भत्ता बढ़ा।

मुंबई में हुए पार्टी के सातवें अखिल भारतीय अधिवेशन में पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् ने कॉ. राजेश्वर राव को महासचिव के रूप में चुना। कार्यकर्ताओं को विश्वास था कि कॉ. डांगे और कॉ. राजेश्वर राव की जोड़ी पार्टी की

नैया को पार जरूर लगाएगी। एटक का त्रिवार्षिक अधिवेशन हुआ 1966 में। मार्क्सवादी पार्टी से बाहर निकले थे—किंतु एटक से अभी अलग नहीं हुए थे। पांच दिन के अधिवेशन के लिए लगभग पांच हजार प्रतिनिधियों की व्यवस्था करना आसान नहीं था, लेकिन आयोजन सफल रहा।

शिवसेना के जन्म और मजदूर आंदोलन में पूंजीपति वर्ग को पसंद आने वाली उनकी भूमिका का भी कॉ. चिटणीस ने वर्णन किया है। महानगर नगर निगम के चुनावों में कांग्रेस विरोध के नाम पर 1968 में समाजवादियों ने शिवसेना से गठबंधन किया। उनसे गठबंधन, जो कहा करते थे कॉ. डांगे की आवाज बंद करो—उन्हें उखाड़ फेंको—आदि। और परिणाम यह हुआ कि अपनी सीटें बढ़ाने की बजाय उल्टे कुछ खो दीं।

एटक और सीटू की एकजुटता की कोशिश में एटक की खुद की एकजुटता कैसे टूटी इसका भी इन्होंने अच्छा विवेचन किया है। दत्ता सामंत जैसे नेता के गिरण गांव में संघर्ष की कथा भी है जो निर्दलीय थे, सबको स्वीकार्य भी लगे, लेकिन राजनीति नहीं जानते थे सो अंततः अपयश प्राप्त हुआ। हड़ताल एक वर्ष चली 1982 से 1983 तक। हड़ताल असफल हुई। बर्बादी हुई। एक वरिष्ठ कामगार ने दुखी मन से कहा—'हड़ताल करना हो तो डांगे से सीखो।'

डांगे का 22 मई 1991 को देहांत हो गया। उनकी जन्म शताब्दी 10 अक्टूबर 1998 को भव्य रूप में मनाई गई। कॉ. चिटणीस ने मजदूरों के सहयोग से 10 लाख इकट्ठा कर संसद में उनकी प्रतिमा लगवाई। चालीस वर्ष मजदूरों के सर्वोच्च नेता को कॉ. चिटणीस ने यों श्रद्धांजलि दी।

इस त्यागी तपस्वी मजदूर नेता का खुद का 6 नवंबर 2010 को देहांत हो गया।

पुस्तक वैचारिक परिपक्वतापूर्ण एक मूल्यवान ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में संग्रहणीय भी।

मंजिल अब भी दूर/गंगाधर चिटणीस/अनुवाद : दिलीप जोशी, राजकमल प्रकाशन, 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 250

मोची स्ट्रीट, फलौदी-342301, (जोधपुर, राजस्थान), मो. 9461621873

बीते दस साल का भारत

प्रेमपाल शर्मा

‘मि

टता भारत बनता इंडिया’ पत्रकार, संपादक शशि शेखर के साप्ताहिक कॉलम ‘आजकल’ का संकलन है।

ये लेख 2001 से 2010 के बीच नियमित रूप से लिखे गए हैं। बकौल सुरेश शर्मा के संपादकीय ‘ये लेख मंच से खड़े होकर संबोधन की शैली में नहीं हैं। ये सामने बैठकर की गई मित्रवत् बातचीत हैं। समय पर बहस है उससे शिकायत है और अंततः अपने समय को गढ़ने की कोशिश भी। इसीलिए इनकी प्रासंगिकता भी बनी रहेगी।’

कम नहीं होते दस वर्ष लगातार कॉलम लिखने के विशेषकर जब दुनिया नई तकनीक और अर्थव्यवस्था से इतनी तेजी से बदल रही हो। दुनिया भर के इन बदलावों से भारत भी अछूता नहीं रहा। उदारीकरण के बाद पुस्तक के शीर्षक की तर्ज पर देश भारत और इंडिया में बंटता जा रहा है। ‘इंडिया’ के प्रायोजक, विमर्शकार, बुद्धिजीवी बार-बार उदारीकरण की प्रशंसा में नाच-गा रहे हैं। उन चंद उपलब्धियों को गिनाते नहीं थकते जिसके बूते मोबाईल हर गरीब के हाथों में है। कार के सैंकड़ों मॉडल उपलब्ध हैं सस्ती नैनो से लेकर पांच-दस करोड़ की गाड़ियां तक। न स्कूटर खरीदने के लिए इंतजार, न शराब की कालाबाजारी। एक दौर था जब मकान बनाना चाहो तो सीमेंट नहीं, शादी करनी चाहो तो राशन का घी, तेल, दूध। अब पैसा फेंकों, तमाशा देखो या उसमें शामिल हो जाओ। नई पीढ़ी विशेषकर इससे प्रसन्न है और यह भी जोड़ती है कि यदि यह सब नहीं होता तो हमारे लिए इतने रोजगार बंगलौर, पूना, गुडगांव, मुंबई में कहां से आते। अभावों के चलते छलकपट,

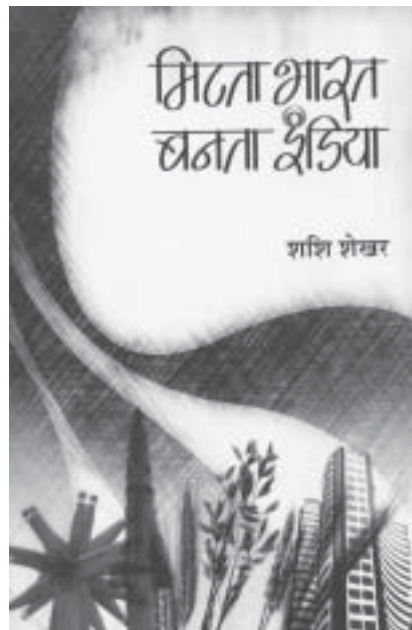
कालाबाजारी भी बढ़ी। भूखे या आधे पेट रहने से अच्छा है दुनिया भर में छलांग लगाने की आजादी।

इसके बरक्स वर्ष 2001 में लिखे गए अपने लेख ‘मंदी और मध्यवर्ग’ (पृ. 48) में शशि शेखर कहते हैं ‘खुलेपन के पिछले दस सालों में रोजगार के अवसर बढ़ने के बजाय घटे हैं। पहले बेरोजगारी सिर्फ नौजवानों में पाई जाती थी। अब तेजी से अर्धे उम्र के लोगों की भी छंटनी की जा रही है। ऐसे हजारों परिवार हैं, जहां बेटा जवान नहीं हुआ और बाप बेरोजगार हो गया। उम्मीद की गई थी कि नई व्यवस्था नए अवसर लाएगी। इसीलिए लोगों ने पुराने कुटीर धंधों को छोड़कर नए व्यवसायों की ओर रुख किया। पर हुआ क्या? आज का तलख सच यही है कि औद्योगिक क्रांति इस देश को छूकर आगे निकल गई है। जिस नए दौर के कसीदे पड़े जा रहे थे, उसने एक साल में दस

लाख बेरोजगार उगले हैं। कोई बताए कि हम कितना निर्यात कर रहे हैं? हमारा आयात बढ़ा है, विलासिता बढ़ी है और बदहाली बढ़ी है। आज हम उस बाजार में जा खड़े हुए हैं, जहां बाजार को हम नहीं, हमें बाजार खरीदता है।’

बेहद तलख लेकिन प्रामाणिक आवाज है यह मौजूदा भारत की। 2001 के बाद तो इसमें कई गुना इजाफा हुआ है। अनंत गाथाएं और आंकड़े हैं चौतरफा। लाखों में किसानों की आत्महत्याएं बताती हैं कि आजादी के बाद ऐसा दौर कभी नहीं आया कि जब अन्न उपजाने वाला किसान आत्महत्या की तरफ बढ़ा हो। महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक में और ज्यादा। ये वे राज्य हैं जहां पिछले बीस वर्षों में ये तथाकथित विकास और ज्यादा हुआ है। कर्ज तो उपलब्ध कराए गए लेकिन शर्तें ऐसी कि मृत्यु के अलावा उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। बेरोजगार युवकों की आत्महत्या की संख्या भी हजारों में है और वैसा ही मिलों, छोटे उद्योगों के बंद होने से रोजगार से बाहर हुए मजदूरों की। विकास दर कितनी भी ऊंची होने का दावा सत्ता करती रहे ग्रामीण भारत की तस्वीर और बिगड़ी है। क्या कोई क्षेत्र ऐसा है कि जहां देश एक और पायदान नीचे न गिरा हो? बच्चों का कुपोषण हो, जन्म के समय माताओं की मृत्यु दर हो या लिंग अनुपात। डायबिटीज, टी.बी., अंधापन इन सब बीमारियों का बढ़ना पूरे विकास पर प्रश्नचिह्न लगाता है।

इंडिया शाइनिंग है तो चंद शहरों की चंद डिप्लोमैटिक सड़कों के इर्द-गिर्द। नोक भर इंडिया के लिए इस छवि को बनाना भी इतना ही जरूरी है सत्ता के लिए—अपनी





हिफाजत की खातिर भी और विदेशियों को निवेश के लिए लुभाने के लिए भी।

दस वर्ष में केंद्र और राज्यों में जब भी चुनाव हुए हैं शशि शेखर की टिप्पणी हाजिर है। उनके अपने प्रदेश उत्तर प्रदेश की कुव्यवस्था की आहट कई लेखों में है। उत्तर प्रदेश के उलट-पुलट (पृ. 79-80) सत्ता के लिए जूझ रहे सपा, बसपा और भाजपा गठबंधनों के वादे और दावे भले ही कुछ भी हों परंतु यह बेहद तलख और तीखा सच है कि क्षरण के इस दौर को आगे बढ़ाने में इन सबका समान योगदान है। कांग्रेस के सत्ताबदल होने के बाद इन सभी ने कभी-न-कभी लखनऊ की गद्दी संभाली। इसलिए वे अपनी इस जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते। उत्तर प्रदेश को उलटा प्रदेश बनाने में सभी ने बराबर की भूमिका अदा की है। इस प्रदेश के मतदाता की बेबसी देखिए, चुनावों के बाद इन्हीं तीन में से कोई एक या दो उनके हुक्मरान बनेंगे। मतदाता सच जानते हैं और सच्चाई से मुंह भी नहीं मोड़ते। पर करें क्या? उत्तर प्रदेश की नियति ही ऐसी है। उसे अभी और उलट-पुलट होना है। उत्तर प्रदेश का प्रमेय (पृ. 84) बीमारू प्रदेशों की अंगड़ाई (पृ. 388) या प्रदेश में 2002 में हुए चुनावों पर उनकी टिप्पणी सही लगती है।

2008 में अमर उजाला अखबार में उन्होंने दिवंगत नेता अर्जुन सिंह पर टिप्पणी की है, उनके पूरे व्यवहार पर। वे लिखते हैं कि अर्जुन सिंह यू.पी.ए.-1 में प्रधानमंत्री पद के गंभीर दावेदार थे। परिवार के प्रति निष्ठा, सियासी पकड़ और वरिष्ठ नेताओं का समर्थन सब कुछ था उनके पास। पर यही उनकी कमजोरी भी साबित हुई। परिवार को प्रधानमंत्री पद के लिए ऐसे शख्स की तलाश थी जो पेशेवर राजनीतिज्ञ न हो (पृ. 208-209)। नेहरू-गांधी परिवार सूरज की तरह है। उसके पास जाओगे, तो जल जाओगे। दूर रहोगे, तो ठंड से मारे जाओगे। लगभग पांच दशक तक दूर और पास का यह खेल खेलते-खेलते शायद अर्जुन सिंह ऊब गए हैं। तो क्या उन्होंने उम्र के इस मुकाम पर अपने लिए नया शगल पाल लिया है?

लेकिन 'बीमार प्रदेशों की अंगड़ाई' (पृ. 388) लेख में उनके सभी निष्कर्षों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। इस लेख में उन्होंने भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बच्चों के आंकड़े दिए हैं। निश्चित रूप से महिलाओं का ज्यादा चुना जाना बहुत अच्छी खबर है और उतनी ही अच्छी खबर है समाज के गरीब, अनुसूचित जाति, जनजाति के लोगों को चुना जाना। यह इस बात का संकेत है कि शिक्षा के बूते इन गरीबों की प्रतिभा भी सामने आ रही है लेकिन असहमति का बिंदू यह है कि शशि शेखर ने जिस बात पर तसल्ली जाहिर की है कि इनमें से अधिकांश बीमारू प्रदेशों से हैं तो यह कोई बड़ी सफलता का सूचक नहीं है। जिन राज्यों में न कोई उद्योग बचा हो, न कोई दूसरा रोजगार वहां मरता क्या न करता के अंदाज में बच्चे सिविल सेवा परीक्षा की रटत में ही रास्ता ढूंढते हैं। यह लेख 2010 में लिखा हुआ है। 2011 से सिविल सेवा परीक्षा की प्रारंभिक परीक्षाओं

में कोठारी आयोग की सिफारिशों को दरकिनार करते हुए अंग्रेजी शुरू कर दी गई है और परिणाम सामने है। 2011-12 के परिणामों में इंडियन एक्सप्रेस (31, जुलाई, 2012) गरीब और ग्रामीण तबकों के सफल परीक्षार्थियों की संख्या 49% से घटकर 29% रह गई है। आश्चर्य की बात यह भी कि शिक्षा के चौतरफा गिरते स्तर, स्कूलों के निजीकरण, अंग्रेजी के बढ़ते दबदबे के खिलाफ कड़े स्वर पूरी किताब में ढूंढे नहीं मिलते। क्या हिंदी संपादक भी शाइनिंग इंडिया के प्रचार में बहक गए हैं?

पुस्तक में संकलित लगभग 100 लेखों से गुजरते हुए हम पाते हैं कि तमाम आशंकाओं के बीच शशि शेखर भविष्य के प्रति आशंकित हैं। इसीलिए 2011 में नववर्ष पर वे लिखते हैं (पृ. 446) 'यह सुकून की बात है कि एशिया के साथ अफ्रीका का भी उदय हो रहा है। भारत और चीन में जहां कृषि की जगह अब औद्योगिक सभ्यता को अपनाने की होड़ लगी है, वहीं अफ्रीका में कृषि का क्षेत्र विस्तार ले रहा है। मैं दस साल के अंतराल में युगांडा और दक्षिण अफ्रीका दो बार गया। वहां के शहर और गांव भी वैसी ही अंगड़ाई ले रहे हैं, जैसी पिछले दशक में हम लिया करते थे। वैश्विक ज्ञान के हरकारे हम सबका दरवाजा खटखटा रहे हैं।'

पूरी पुस्तक इस बात की गवाह है कि मौजूदा भारत का शायद ही कोई ज्वलंत प्रश्न ओझल हुआ हो। कश्मीर, पाकिस्तान से लेकर आतंकवाद, लालगढ़ या मंदी और क्रिकेट के प्रश्न। सभी कुछ। बस ऐसे फौरी लेखन की एक सीमा जरूर होती है कि बहुत गहराई से उतरने का अवकाश यहां नहीं होता। लेखों को विषयवार खंडों में प्रस्तुत किया जाता तो पुस्तक और व्यापक प्रभाव छोड़ती।

मिदता भारत बनता इंडिया/शशि शेखर/संपादक : सुरेश शर्मा/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 600

96, कला विहार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, एक्सटेंशन, दिल्ली-110091, फोन. नं. 011-23383315 (कार्या.), 011-22744596 (घर)

लोक का रंग अरंग और नाटक का जनतंत्र

मनोज मोहन

ह

षीकेश सुलभ ने कहानी और नाटक लिखने के साथ-साथ एक रंग-चिंतक की भूमिका भी बखूबी निभाई है। बिना

अतिरंजित हुए उन्होंने नाटक और रंगमंच की दुनिया में हो रही हलचलों पर अपना ध्यान केंद्रित रखा और उसे सामाजिकों के समक्ष रखा। क्योंकि 'आज एक तरफ ऐसा रंगमंच हैं, जिसके संचालन की डोर अंग्रेजी के माध्यम से भारत को जानने-समझने वाले प्रभुओं के हाथ में है। इसके बरअक्स अपनी भाषा, परंपरा और मिट्टी-पानी, बोली-बानी से जुड़ा रंगमंच है। दोनों के सरोकार स्पष्ट हैं। एक के लिए वैभव और धन महत्त्व रखता है, तो दूसरे के लिए मनुष्य और जीवन।' लेखक ने अपने इस अवलोकन के आलोक में अपना पक्ष शुरू से ही 'मनुष्य और जीवन' के साथ रखा। यही कारण है कि वे नाटक लिखते हैं तो बिदेसिया नाट्य शैली की रंग-युक्तियों को अपनाते हैं। पूरी पुस्तक को पांच उपखंडों में बांटा गया है—धरोहर, विमर्श, संवाद, पुस्तक और 'प्रदर्शन और आयोजन'।

धरोहर में नाटक के क्लासिकल पीरियड यानी संस्कृत नाटकों की चर्चा है। ज्योतिरीश्वर के लक्षण ग्रंथ 'वर्णरत्नाकर' पर विचार करते हुए सुलभ जी ने उनके नाटक 'धूर्त समागम' के साथ 'पारिजात हरण' और 'गोरक्ष विजय' पर सारगर्भित तरीके से विचार किया। इन तीनों नाटकों की चर्चा इसलिए भी महत्त्व रखती है कि तत्कालीन समय में संस्कृत भाषा आभिजात्य का प्रतीक हो चली थी और ये तीनों नाटक मैथिली में प्रक्षेपित होने के कारण ही लोक के निकट पहुंचे। लेखक का कहना है, 'रंगमंच की इस जनोन्मुख परंपरा के जन्म और विकास के पीछे भाषा की अपार शक्ति

थी। प्रभु वर्ग और कुलीन ब्राह्मणों के बीच सिमटकर रह जाने वाली भाषा संस्कृत के अपदस्थ रंगमंच के गर्भ से निकली इस परंपरा ने अपने लिए बोलियों और जनभाषाओं को स्वीकार किया। केवल इतना ही नहीं, नवीन नाट्यानुभूतियों के लिए इस रंग परंपरा ने नवीन युक्तियों की खोज की और संरचनात्मक स्तर पर नए प्रयोग किए। गीत-संगीत जैसी रंग-युक्ति को शामिल किया, जिसका जन-जीवन से सीधा जुड़ाव था।' वहीं 'गोरक्ष विजय' के बारे में उनका कहना है—'गोरक्ष विजय' में संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग बहुत कम है। नाटक का समस्त विकास मैथिली गीतों के माध्यम से ही होता है।'।

विमर्श खंड में हृषीकेश सुलभ की सोच के भूगोल में एक सीमित क्षेत्र नहीं बल्कि पूरा आधुनिक भारतीय रंगपरिदृश्य है। और वे उससे खुद तो परिचित हैं ही साथ ही सामाजिकों

के भी ज्ञान का विस्तार करने में सक्षम हैं। 'हिंदी रंगमंच के युवा सरोकार' लेख में वे युवा रंगकर्मियों के भविष्य और उनके विभिन्न आयामों को लेकर पूरी तरह आश्वस्त हैं। अनिल रंजन भौमिक अपने समय और समाज की विडंबनाओं को उजागर करते हैं तो अजय कुमार अपनी प्रस्तुति को आधुनिकता और परंपरा दोनों के साथ विन्यस्त करते हुए कलात्मक गरिमा प्रदान करते हैं और इस लेख में ही अरविंद गौड़ के बारे में कहते हैं कि वे प्रयोगधर्मिता के साथ-साथ विचारधारा के भी पक्षधर हैं।

'हिंदी रंगपरिदृश्य और नाट्य लेखन' लेख में हृषीकेश सुलभ ने हिंदी में नाटक नहीं लिखे जा रहे, रोने के इस पुराने रोग को पूरी तरह यह कहकर नकार दिया है कि 'आजादी के बाद जिन हिंदी नाटककारों ने साहित्य और रंगमंच को अपनी विविधवर्णी रचनात्मकता से समृद्ध किया उनमें जगदीश चंद्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल, सुरेंद्र वर्मा, शंकर शेष, भीष्म साहनी, मुद्रा राक्षस आदि के नाटक आज भी हिंदी साहित्य की आलोचना के परिदृश्य पर अनुपस्थित हैं।' जबकि नाटकों का आलोचना के परिदृश्य पर उपस्थित होना उतना जरूरी नहीं है जितना कि निर्देशकों और सामाजिकों के मन को भाना। आलोचक प्रिय न होने के बावजूद लक्ष्मी नारायण लाल और जगदीश चंद्र माथुर ने अपने नाटकों में रंगमंचीयता का ख्याल रखा तो निर्देशकों के साथ-साथ सामाजिकों को भी पसंद आए। इस कड़ी में सर्वोत्तम उदाहरण मोहन राकेश का है जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ रंग-युक्ति और समय के अनुकूल रंगमंचीयता के महत्त्व को स्वीकारा और सफल रहे। भले ही उनके समकालीन कहते रहें कि 'वह नाटक की ओर भाग गया'। जबकि सच





यह है कि जो समकालीन ये कह रहे हैं या थे उनके उपन्यास और कहानियों से मोहन राकेश की कहानियां या उपन्यास कमजोर नहीं हैं। इसके बावजूद हृषीकेश सुलभ का यह कहना सही है कि 'नाटक एक सामूहिक कला है, जिसे अपनी संपूर्ण यात्रा में कई पड़ावों से होकर गुजरना पड़ता है। यहां दंभ का कोई स्थान नहीं, पर हिंदी रंगमंच पर एक लंबे समय से यह दंभ काबिज है। यही दंभ एक ओर निर्देशक को उसकी रचनाशीलता के स्पर्श से नाट्यलेख को अलग रखना चाहता है, तो दूसरी ओर लेखक को दूसरे दर्जे की नागरिकता देकर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। विमर्श खंड में ही सबसे लंबा लेख 'आधुनिक हिंदी रंगमंच के स्थपति : श्यामानंद जालान' है। जालान और राकेश के बीच 'लहरों के राजहंस' को लेकर हुए पत्र-व्यवहार निर्देशक और नाटककार की सकारात्मक और क्रियात्मक सोच को दर्शाते हैं और वे पत्र हिंदी रंगमंच के इतिहास का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं, इससे किसी को इंकार न होगा। लेखक का श्यामानंद जालान के बारे में यह कहना बिल्कुल सही है कि 'वे आधुनिक हिंदी रंगमंच की आधारशिला रखने वाले ऐसे श्रेष्ठ स्थपति थे, जिन्होंने स्वयं को नींव में ईंट की तरह डाल दिया। वे हमेशा नींव में ईंट की तरह बने रहेंगे।' इसी खंड में बेकेट, तेंदुलकर, बादल सरकार पर लिखे लेख के साथ लोक को लेकर हबीब तनवीर और विंध्यवासिनी देवी पर लिखे

लेख हृषीकेश सुलभ के रंग चिंतन के फलक के विस्तार का परिचय देते हैं।

संवाद खंड में रंग निर्देशक अरविंद गौड़, सुबोध पटनायक और प्रोबीर गुहा से लेखक की बातचीत रंग निर्देशकों की सोच किस तरह भिन्न दिशाओं में सक्रिय है, उससे पाठक परिचित होता है। प्रोबीर गुहा एक राजनीतिक रंगकर्मी हैं। सुबोध पटनायक अपनी रंग-गतिविधियों से सांस्कृतिक कथ्य लिखते हैं, जिसे पढ़ते-सुनते हुए आने वाले दिनों का रंग संघर्ष अनुप्राणित होगा तो अरविंद गौड़ एक ऐसे सक्रिय रंगकर्मी हैं जो भारत रंग महोत्सव के आभिजात्य का विरोध करते हैं।

पुस्तक खंड में जगदीश चंद्र माथुर और वीरेंद्र नारायण की रचनावलियों के साथ रंगमंच से जुड़ी बारह पुस्तकों की समीक्षाएं शामिल हैं। 'लोकरंग' पुस्तक जो पूरी तरह रसूल मियां पर केंद्रित है, उसकी समीक्षा के बहाने लोक की महत्ता को स्थापित किया गया है। 'रसूल अंग्रेजों से मुक्ति की कामना को अभिव्यक्त करते रहे, तो भिखारी सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति के संघर्ष और स्त्री-जीवन की पीड़ा को।' ये पंक्तियां तत्कालीन समय के बाह्य और आंतरिक संघर्ष की पीड़ा को व्यक्त करने में सक्षम हैं।

'भारतीय सिनेमा के अंतःकरण' की समीक्षा में विनोद दास के बारे में वे कहते हैं कि 'विनोद दास का लेखन हमें फिल्म देखने और देखते हुए पढ़ने की कला भी सिखाता

है।' जगदीश चंद्र माथुर रचनावली की समीक्षा में जो बात अधूरी रह गई वो उन्होंने 'रंग-दस्तावेज' की समीक्षा करते हुए कह दी कि 'जगदीश चंद्र माथुर की उपस्थिति ने बिहार के रंग परिवेश पर व्यापक प्रभाव डाला। उनके नाटक 'कोणार्क' के मंचन से बिहार में आधुनिक रंगकर्म की शुरुआत मानी जा सकती है।' पटना की समस्त रंग-गतिविधियों के केंद्र 'कालिदास रंगालय' के निर्माण का श्रेय सुलभ जी अनिल कुमार मुखर्जी को देते हैं लेकिन प्रेमचंद रंगशाला के बारे में वे कुछ नहीं बताते जो काफी दिनों तक रंगकर्मियों और सरकार के बीच झगड़े का कारण रहा है। पटना के अपने दौर के रंग सक्रिय व्यक्तित्व अपूर्वानंद ने 'नटरंग-92' में प्रकाशित अपने लेख में यह महत्वपूर्ण सूचना दी है कि 'प्रेमचंद रंगशाला के स्थापत्य और वास्तु के विषय में कहा जाता है कि यह माथुर साहब की ही योजना थी।' आजादी के तुरंत बाद जगदीश चंद्र माथुर का रंग व्यक्तित्व बहुतां पर भारी था। उन्होंने बिहार के ही रंगमंच को नहीं बल्कि भारतीय रंगमंच को भी समृद्ध किया।

'प्रदर्शन और आयोजन' खंड में कुछ ऐसी रचनाएं भी शामिल हैं जिनका रंगमंच से सीधा संबंध नहीं है पर रंगमंच को कलाओं की विविध सरणियों से गुजरना होता है। समग्र रंग-परिदृश्य को जानने-समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन स्पंदनों को भी महसूस करें जिन्हें हमारे समय में अन्य कलाएं पैदा करती हैं।' किताब की भूमिका में लेखक की इस स्वीकारोक्ति के साथ यह भी कहना लाजिमी होगा कि देश भर में हो रहे विभिन्न रंग-समारोहों में जाकर ही रंग से जुड़े व्यक्तित्वों को संपूर्णता हासिल होगी।

इसके बावजूद 'रंग-अरंग' पुस्तक नाटक देखने के शौकीनों को एक दृष्टि और उनकी रुचियों के दायरे को विस्तार देने की प्रेरणा देने में सक्षम है।

रंग अरंग/हृषीकेश सुलभ/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 400.00

मनोज मोहन, एल.पी.-61-बी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, मो. : 9868664457

आज भी जीवित है लाओस में ताड़पत्रों पर लेखन की कला

आलेख एवं प्रस्तुति : अशोक सिद्धार्थ

लाओस की लगभग ६ शताब्दी पुरानी साहित्यिक विरासत ताड़पत्रों पर लिखी पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी विविध रूप से समृद्ध इन साहित्यिक रचनाओं की बारम्बार नकल करके इसे आज तक संजोकर रखा जा सका है। मुद्रण की आधुनिक तकनीकों ने जहाँ अन्यत्र इस कला को विलुप्तप्राय कर दिया है वहीं लाओस के बौद्ध विहारों ने इसे बखूबी जिंदा रखा है।

प्रस्तुत चित्रवीथी ताड़वृक्ष से ताड़पत्र पर पाण्डुलिपियों के जन्म की कहानी कहती है। इन चित्रों में बौद्ध भिक्षु इस कला में पारंगत होने का पारम्परिक प्रशिक्षण ले रहे हैं।

छायाचित्र © नेशनल लायब्रेरी ऑफ़ लाओस
(सार्वजनिक स्वीकृति के अंतर्गत साभार)



ताड़वृक्ष जिसकी पत्तियों से बने ताड़पत्रों पर पाण्डुलिपियों का जन्म होगा।

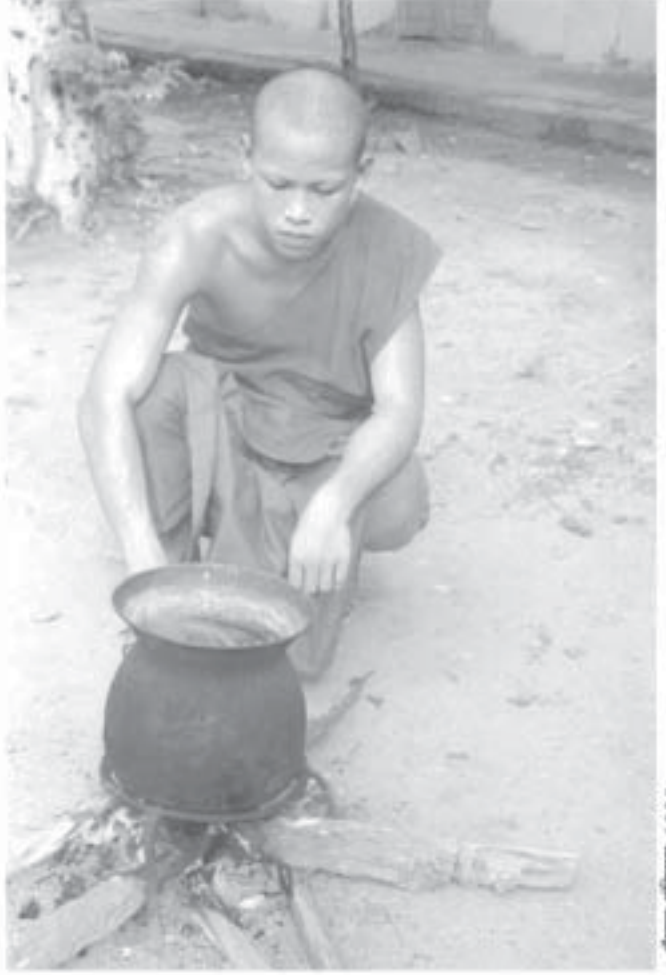


ताड़पत्र बनाने के लिए ताड़ की अच्छी पत्तियों को चुनते हुए।

ईरलैंड दृशियस 1999



ताड़ की चुनी हुई पत्तियों को पट्टियों के आकार में काटकर उबाला जाता है।



ईरलैंड दृशियस 1999

ईरलैंड दृशियस 1999



ईरलैंड दृशियस 1999

हरिद्वार 1999



हरिद्वार 1999

उबालने के पश्चात पत्तियों को खुले में भलीभांति सुखाकर समान आकार में काटा जाता है।
लेखन की सुविधा के लिए सूत लगे उपकरण की सहायता से समानांतर रेखाएँ बनायी जाती हैं।

हरिद्वार 1999



मुम्बई 2004



ताड़पत्रों पर धातु की कलम से अक्षरों को गहरा उकेरा जाता है।

पत्रों पर कालिख से बनी स्याही का लेप किया जाता है। अतिरिक्त स्याही को पोंछ कर साफ़ कर लिया जाता है। अक्षरों में स्याही भरी रह जाती है। ताड़पत्रों को यांग वृक्ष के तेल से उपचारित कर संरक्षित करते हैं।



पाण्डुलिपियों को प्रायः लकड़ी से बने इस प्रकार के पारम्परिक कोषागारों में जिन्हें 'होई तार्ई' कहा जाता है, सुरक्षित रखा जाता है। भलीभाँति उपचारित पाण्डुलिपियाँ औसतन पाँच सौ वर्षों तक संरक्षित रहती हैं।

शब्दों का कारोबार

भगवान सिंह

‘श

ब्दों का सफर’ अजित वडनेरकर के महासफर का पहला पड़ाव है। प्रकाशन सुरुचिपूर्ण, शब्दानुक्रमणी से युक्त है और पुस्तक सपरिश्रम, पर बिना किसी योजना के जुटाई गई सामग्री के आधार पर लगभग तरंग में लिखी गई टिप्पणियों का संकलन है। आज तक जिन लोगों ने इस क्षेत्र में काम किया है उनके सामने कोई समस्या रही है और उसी से उन्हें अपने अध्ययन की दृष्टि मिलती रही है। पुस्तकाकार आने से पहले यह ब्लॉग के रूप में प्रकाशित होती रही और इसे खासी लोकप्रियता भी मिली थी। यह इस विषय में पाठकों की प्रबल उत्सुकता का प्रमाण तो है ही लेखक की प्रस्तुति का भी प्रमाण है कि इस पर 12 हजार पाठक अपनी प्रतिक्रियाएं दे चुके थे। लेखक ने नम्रतापूर्वक यह प्रस्ताव रखा है कि “मेरे इस प्रयास को भाषाविज्ञान और व्युत्पत्तिशास्त्र के नियमों में बांधकर न देखा जाए। यह मूलतः शब्दविलास है।” परंतु यह सीमा पुस्तक के नाम में झलकनी चाहिए थी। यदि इसमें जन्म सूत्रों की तलाश और विवेचना का दावा न करके ‘शब्द विलास’ जोड़ा गया होता तो पाठक भ्रमित न होते। व्युत्पत्ति विलासिता का क्षेत्र नहीं है।

मैं लंबे समय से भारतीय इतिहास, संस्कृति और समाज रचना को समझने के लिए भाषातात्विक ऊहापोह से गुजरता और समय-समय पर कुछ लिखता आया हूँ, परंतु पूरे विस्तार से लिखने का समय न तो निकाल सका, न अन्य कामों को देखते इसकी संभावना दिखाई देती है। यह धड़ल्ले से किया जाने वाला काम नहीं है। इसमें स्याह बदलकर सफेद हो जाता है, तमस तमतमाहट में बदल जाता है और फिर निरंजन हो जाता है। जिस स्तर पर यह लीला होती है, उस तक पहुंचने की अपेक्षा उंगली दबाओ और सूचना जुटाओ वाले युग के किसी नए लेखक से नहीं की जा सकती, न कर रहा था, फिर भी पुस्तक को देखकर बहुत आशान्वित हुआ। कारण दो थे। पहला यह कि इस जरूरी काम की ओर किसी

अन्य ने ध्यान दिया ही नहीं, अब किसी अध्येता ने इधर ध्यान तो दिया। दूसरा पुस्तक को उलटने-पलटने से ही यह विश्वास हो जाता है कि लेखक ने अपनी ओर से श्रम किया है और आज साधनों का जो विस्तार हुआ है उसमें अपेक्षाकृत कम समय में, परंतु अपेक्षित सावधानी से, ऐसे काम किए जा सकते हैं जिनके लिए पूरे कार्यदल की जरूरत पड़ा करती थी फिर भी कुछ कसर रह जाती थी।

पुस्तक में गलतियां कई तरह की और काफी अधिक दिखाई दीं। ये योग्यता की कमी के कारण नहीं, महत्वाकांक्षा की कमी के कारण हुई हैं। सोचा लेखक के पास प्रतिभा है, तैयारी के लिए उम्र पड़ी है, जिसका मेरे पास अभाव है, यदि वह इस काम के महत्त्व को समझ सके तो गलतियों को सुधारने में सहायता की जा सकती है और आगे के काम को सही दिशा भी दी जा सकती है अतः समीक्षा के माध्यम से इसकी कमियों को उजागर करने से अधिक अच्छा होगा कि प्रकाशक के माध्यम से लेखक को यह सुझाया जाए कि वह पूरी पुस्तक की गलतियों की जांच

करे और जो प्रतियां छप चुकी हैं, उनके लिए एक शुद्धिपत्र तैयार करके इसमें जोड़े। इसे पुनर्मुद्रित करने के स्थान पर इसे नए सिरे से लिखकर स्तरीय बनाए। प्रकाशक ने मेरे सुझाव पर ध्यान भी दिया और मेरे पत्र की प्रतिलिपि लेखक को भी भेजी, परंतु लेखक ने उसे यह समझा दिया कि उसने ‘पुस्तक विद्वानों के लिए नहीं, सामान्य पाठकों के लिए लिखी है, और पुस्तकों में गलतियां तो होती ही रहती हैं।’ एक प्रसंग में उसने यह भी दलील दी कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान में कुछ भी निश्चित नहीं है। इस प्रतिक्रिया ने निराश किया। यदि लेखक स्वयं अपनी भूलें सुधारने को तैयार नहीं तो इससे होने वाली क्षति को कम करने के लिए पुस्तक की सीमाओं से पाठकों को अवगत कराना जरूरी हो जाता है। सच तो यह है कि खेल और विनोद के भी अपने नियम और मर्यादाएं होती हैं। इनमें चूक भी होती है और लोग फाउल और आउट भी किए जाते हैं, परंतु जानबूझ कर कोई नियमों और मर्यादाओं का उल्लंघन करे, खेल तब विनोद नहीं रह जाएगा, तब हुड़दंग में बदल जाएगा। लेखक की लापरवाही के पीछे ‘हिंदी में कुछ भी चल जाएगा’, की मानसिकता है। गंभीर विषयों पर हिंदी में काम नगण्य होने के कारण हिंदी के सुधी जनों का स्तर भी विनोद का ही विषय बन चला है।

सफर में यह तो पता चलना ही चाहिए कि चलने वाला कहां से चला, कहां होते हुए कहां पहुंचा। बीच के रास्ते का सही पता न भी हो तो प्रस्थान बिंदु और गंतव्य स्थल का पता अवश्य होना चाहिए। इसमें गमन करने वाले की अपनी जन्मकुंडली (जन्मसूत्रों की तलाश या व्युत्पत्ति) को छोड़ दिया जाय। तो खतरा कम हो जाय, पर यदि की ही जाय तो अपनी ओर से सही होने की भरपूर कोशिश होनी चाहिए। उसका यहां अभाव है, दिशाबोध में कमी है।

शब्दविचार सभ्यता के इतिहास को समझने का सबसे विश्वसनीय और पुरातत्व का पूरक और उतना ही सार्थक तरीका है। इसकी ओर सबसे पहले मैक्समुलर का ध्यान गया था जिन्होंने



पुराण कथाओं, शब्दों और जंतुकथाओं आदि के इतिहास को टटोलते हुए यह दावा किया था कि इनके सबसे प्राचीन रूप 'हिंदू' अतीत में मिलते हैं (भारत कहने में उन्हें झिझक थी, क्योंकि हिंदुओं को भी भारत में बाहर से आया सिद्ध करना उनकी बाध्यता थी) जबकि यूरोप की ओर बढ़ते हुए इनमें गिरावट आती जाती है और ठहराव और विकृति मिलने लगती है। देवशास्त्र पर काम करते हुए मैक्समुलर ने भी यही नतीजा निकाला था। मैक्समुलर ने संस्कृत धातुओं के प्रसंग में यह सुझाया था कि इनसे यूरोप के समस्त भारोपीय शब्दभंडार को साधा जा सकता है। उनके ये विचार कई कृतियों में और कई प्रसंगों में आए हैं, पर इस समय Biographies of words और Migration of Fables का जिक्र अधिक प्रासंगिक है। जिस दौर में वे अपने ये विचार प्रकट कर रहे थे उस दौर में यूरोपीय बोलियों को प्रमुखता देते हुए प्रोटो इंडोयूरोपियन की धातुओं का टुकसाल ओवरटाइम काम कर रहा था। उससे वह असंतुष्ट न होते तो इतने साफ और जोरदार ढंग से यह न सुझाते कि मूल रूप गढ़ने की जगह संस्कृत धातुओं पर ध्यान दो। मैक्समुलर ने रंगभेदी पूर्वाग्रहों का ध्यान रखते हुए मूल निवास को मध्येशिया, छोटा पामीर, में कल्पित किया था और वहीं से एक-एक कर यूरोप के सभी जत्थों को प्रस्थान करते दिखाया था, जो मात्र अटकलबाजी है। उनका ऐतिहासिक विवेचन जेम्स मिल द्वारा आरंभ किए गए उस अभियान के खंडन में था, जिसमें यह प्रस्ताव था कि सभी सिद्धांत यूरोप से बाहर गए हैं—all theories out of west और एशिया के जो देश यूरोप के जितने ही निकट हैं वे उतने ही सभ्य रहे हैं और जितने ही दूर उतने ही पिछड़े।

उसके बाद पश्चिम के विद्वानों के ही विचार लगातार दुहराए जाते रहे ताकि इस अहंकारपूर्ण, कुतर्कपूर्ण और यूरोकेंद्री मान्यता को सत्य में बदला जा सके। इस योजना से अनमेल पड़ने वाले विद्वानों की अवज्ञा या उपहास किया जाता रहा। उदाहरण के लिए मैक्समुलर ने भारत में 'आर्यों' के प्रवेश की जो तिथि अटकलबाजी के आधार पर सुझाई थी उस पर आपत्ति जताने वालों से सहमत होते हुए कहा था, दुनिया की कोई ताकत यह तय नहीं कर सकती कि वैदिक साहित्य कितना प्राचीन है, ईसा से हजार, दो हजार या तीन हजार साल पूर्व या उससे भी प्राचीन। परंतु जिस बात को निर्णयात्मक स्वर में कहा था कि गल्प, साहित्य, दर्शन, भाषा और देवशास्त्र सभी में भारत सबसे प्राचीन ठहरता है और यहां से इनका निर्गमन यूरोप की ओर हुआ है, उसका खंडन तक न हो सका, इससे चुप्पी साध ली गई।

पुस्तक में विचार हिंदी शब्द संपदा पर किया गया है और तलाश दिशा की करनी है इसलिए दिशाओं के बारे में कुछ मोटी समझ जरूरी है। आपको तय करना है कि (1) जो शब्दावली भारत से यूरोप तक फैली दिखाई देती है, वह पूरब से पश्चिम को गई है या पश्चिम से पूरब को आई है; (2) जो शब्दावली संस्कृत और बोलियों में व्याप्त है वह संस्कृत का तद्भव है अथवा संस्कृत ने इसे बोलियों से लेकर अपनी प्रकृति में ढाला है, अर्थात् प्रवाह नीचे से ऊपर को है या ऊपर से नीचे को; (3) हिंदी और हिंदीतर भारतीय भाषाओं में बहुनिष्ठ शब्दावली किधर-से-किधर को पहुंची है अर्थात् क्षैतिज यात्रा का चरित्र और दिशा या दिशाएं क्या हैं। इसके बाद भी छानबीन के कुछ काम बच रहते हैं, उदाहरण के लिए घोषित रूप में द्रविड़ या मुंडारी शब्द जो यूरोपीय भाषाओं में पहुंचे हैं उनका तंत्र क्या था? या संस्कृत सहित यूरोप तक की प्राचीन भाषाओं में जो समान घालमेल है उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है? जिस कुर्गान क्षेत्र को भारत और ईरान की ओर बढ़ने वाले आर्यों का उत्स देश बताया जाता रहा, उसी में या उससे सटे क्षेत्र में द्रविड़ और मुंडारी भाषाओं से समानताएं रखने वाली सामग्री कैसे पहुंची? ये बुनियादी सवाल हैं जिनका सामना किए बिना सफर पर निकलें तो यात्रा में विघ्न पड़ेंगे।

इन सबके बारे में पहले से बनी बनाई कुछ स्थापनाएं रही हैं। वे पहले भी लचर और अग्राह्य थीं, हाल के दिनों में उनका खंडन हुआ है फिर भी एक कोशिश मलबे को ओट में रखकर पुराने भ्रम को जिलाए रखने की जारी है। भौतिक पुरातत्व हो या भाषिक पुरातत्व ये विनोद के क्षेत्र नहीं हैं। यहां खंडित मान्यताओं और नई सच्चाइयों के बीच जीवन-मृत्यु का संग्राम चल रहा है, इसलिए इस मैदान में घुसने से पहले यह साफ होना चाहिए कि आप कहां खड़े हैं, किधर को बढ़ रहे हैं और इसका क्या हथ्र होगा? लगता नहीं कि लेखक अद्यतन स्थापनाओं से अपरिचित हैं।

लेखक इस बात का लाभ तो लेना चाहता है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान में कुछ भी निश्चित नहीं है, परंतु यह नहीं समझता कि इसका कारण क्या है। यह भी नहीं सोचा कि जिस विद्या में ज्ञान ही गड़बड़ है, वह विज्ञान कैसे हो गई?

गड़बड़ियां इस बात का संकेत होती हैं कि आप गलत रास्ते पर जा रहे हैं। गलत रास्ते पर चलने और दूसरों को चलाने से जिन्हें लाभ था, वे आरंभ से ही इसे जानते थे। उन्होंने अंतर्विरोधों और असंगतियों को दरकिनार करते हुए अपनी रट जारी रखी। परंतु जिनको भटकाया जा रहा था

उन्हें तो होश में आना चाहिए था कि माजरा क्या है। बौद्धिक परावलंबन और निकम्पेपन के कारण वे इतनी अनर्गलताओं के बावजूद यह चेत नहीं सके कि उनको आतंकित और अनुकूलित करते हुए उनका बौद्धिक बधियाकरण किया जा चुका है। वे उन्हें ही अपना प्रमाण मानते हैं जो उन्हें पशु बनाकर रखना चाहते हैं।

लेखक धातुओं और मूल्य रूपों की निराधार उद्भावनाएं कर बैठता है। उसकी व्याख्या के अनुसार 'चिरकुट शब्द चीर+कृत से बना है।' आगे काफी सारी जानकारियां हैं, संस्कृत का चीवर और 'हिंदी का चीर, चिरा, चीरा, चिराई' आदि शब्द चीर से ही बने हैं। जो जानकारी नहीं है वह यह कि इनके पीछे मूल संकल्पना क्या है जिससे चीर ही नहीं चिरौरी तक का संबंध हो सकता है। किसी चीज को फाड़ने या चीरने की क्रिया से उत्पन्न ध्वनि, चिरी हुई चीज या पट्टी की संज्ञा बन गई। एक समय में वस्त्र के नाम पर यह पट्टी ही होती थी जिसे मौंजी या करधन में आगे-पीछे खोंस लिया जाता था। बाद में इसका अर्थविस्तार भी हुआ। कैकेयी ने जो चीर राम को सबके सामने पहनने का आदेश दिया था वह वही चीर था जो सूमो पहलवान पहनते हैं—अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवं, उवाच परिधत्स्वेनं जनौघे निरपत्रपा। बौद्धों का चीवर भी यही था, मात्र नग्नता को ढकने वाला जिसके कारण बुद्ध ने स्त्रियों की ओर न देखने की सलाह दी थी। प्रतिमाओं वाले बुद्ध राजकीय प्रोत्साहन के बाद के हैं।

चिरकुट में फटने के बाद कुटने की दुर्गति का भाव है और इससे इतिहास का एक सच जुड़ा है। फटे हुए वस्त्र के पूरी तरह गल जाने और सिलने या पैबंद लगाकर भी पहनने या कथरी बनाने आदि के काम का न रह जाने पर उसे कूटकर उसकी लुगदी बनाकर रुई के अतिरिक्त उन पलस्तरों में काम में लाया जाता था जो प्राचीनकाल में फर्श और छत आदि को संगमरमर जैसी चिकनाई देते थे, और चिकनाई भी ऐसी कि फर्श की चमक से पानी का भ्रम हो जाए, जिसका उल्लेख महाभारत में है। इतिहास हड़प्पा से पहले तक जाता है। ढोलावीरा में एक सीढ़ी पर इसका निशान बच रहा था।

'संस्कृत धातु कै से कौवा बना, और कु से कोयल बनी'...(342), परंतु 'इसी तरह काँव काँव करने वाले पक्षी को काक या कागा' कहते हैं। इनको अनुनादी शब्द मानने से काम नहीं चलता? कौवा और कोयल तो संस्कृत के शब्द भी नहीं।

क्या तंबू तन् धातु से व्युत्पन्न है? कार्ल बक का तुलनात्मक कोश देखना चाहिए था कि आवास से जुड़े शब्दों का संकल्पनात्मक आधार

क्या है। तम, दम, तोम, डोम (dome)] धाम आदि के साथ छाया और प्रकाश के दुहरे आशय हैं और है वर्तुलाकार फैले और खोखल होने का भाव जो **तुंबा** और **तमूरा** में भी पाया जाता है। **तन्** से **तंतु**, **तनय**, **तना**, **ताना**, **तनिक**, **तन्वी**, अं. tend, tender, tendril, tension, attend, extend, pretend, depend, suspend, tenuous और tent आदि की सगोत्रता संभव है पर तंबू से इसे जोड़ना ठीक नहीं।

यदि **पशु पाश** से बना है (362/63) तो वन्य पशुओं को पशु कहा ही नहीं जाएगा। पशु का अर्थ है पोषण देने वाला। पोषण में दूध, दूध का उत्पाद और मांस सब आता था। अन्न पशवः, शतपथ ब्रा., ओषधयः पशवः, मैत्रायणी सं.। लेखक का ध्यान इस ओर नहीं गया कि आदि भारोपीय चरण ही नहीं, बाद के चरवाही के चरण पर भी पशु बांध कर नहीं, घेर कर या हिरा कर और बाड़ के भीतर रखे जाते थे। यदि **पाश पेकू** बनकर यूरोप में छिपा रहा और इसी से **पशु** का नामकरण हुआ तो समाज खेतिहर था। उन्हीं को पशुओं को बांधने, नाथने, जोतने आदि की जरूरतें पैदा हुईं। खेतिहर समाज से पाश पहले चरवाही अवस्था में रहे लोगों के पास पहुंचकर ही पेकू बन सकता था, पेकू से पशु नहीं।

धरती गोल है यह जानकारी एक बात है, उसके लिए ग्लोब का प्रयोग होता था यह दूसरी। और यह जानकारी लगातार बनी रही यह तीसरी। ब्रिटैनिका में ग्लोब का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी (1641) से आरंभ हुआ बताया गया है। भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के अलमामू की खिलाफत के समय पहुंचे विद्वद्मंडल के माध्यम से अरबों को और उनके माध्यम से स्पेनियों और पुर्तगालियों को पहली बार चौदहवीं सदी के आस-पास धरती के गोल होने का पता चला लगता है। इसने कोलम्बस को प्रेरित किया उल्टी दिशा से सीधे भारत पहुंचने को। खगोल, भूगोल, अक्षिगोलक आदि में गोल का प्रयोग होता आया था। यूरोप में पहले **स्फेयर**, **आर्ब**, **राउंड** (सं. **रुंड**) आदि का प्रयोग होता रहा है। यूनानियों, मिश्रियों और भारतीयों को धरती, ब्रह्मांड आदि के गोल होने का ज्ञान था पर ईसाइत के पागलपन के कारण पुराने ग्रंथों को जलाकर उस ज्ञान को नष्ट कर दिया गया और धार्मिक पवित्रता के साथ मध्यकालीन अंधकारयुग का निर्माण किया गया। यूनान तक के प्राचीन दार्शनिकों की ओर उसका ध्यान अरबों के माध्यम से और अरबों के पास बख्तर के क्षेत्र में बची ईरानी परंपरा के माध्यम से गया।

यदि **वृक्ष** व्रश्च—काटना से व्युत्पन्न है तो **वक्ष** जो **वृक्ष** से निकला है उसे फाड़ने से व्युत्पन्न मानना होगा। **वृक्ष** का अर्थ है फैलना, ढकना, छाया देना और यही मूलभाव था—‘वृक्ष वरणे’,

‘वृत् आवरणे’। इसी से इसका एक अर्थ पेटी बना। **वक्ष** ही अंग्रेजी का **बॉक्स** है। **वृक्**, **वृक्म**, **वृक्ताति**, **वृश्चिक** ‘ओव्रश्चू छेदने’ अर्थात् व्रश्च से व्युत्पन्न हैं। वन अवश्य वनन या काटने से संबंधित बताया गया है जो पेड़ और जंगल दोनों के लिए प्रयोग में आता था।

गन का यदि किसी भारोपीय मूल से संबंध है और यह **हन्** का सहोदर है तो **गन** का अर्थ नली क्यों है? कहते हैं यह एक देवी से जुड़ा शब्द है और देवी उपपद की तरह स्त्रीनामों में प्रायः पाया जाता है। गोले के बाहर निकलने का या किसी ऐसी क्रिया का चित्रविस्तार हो सकता है। इसलिए धातु न इधर की चली न उधर की।

कृष्ण को मोहन और मनमोहन भले कहा जाता हो कृष्ण नाम का संबंध आकर्षण से या कृषि आदि से नहीं है। कृष्ण और बलदेव पशुचारण और कृषिकर्म के मानवीकरण हैं जिन्हें भाई बना दिया गया। संकर्षण अर्थात् बलदेव का आयुध ही हल था। उनका **कृष्** और **कृषि** से संबंध अवश्य है। ऋग्वेद के समय से आज तक कृष्ण का यही अर्थ है। **कृष्** का **कृषि** और **कर्षण**, **विकर्षण** और **आकर्षण** से संबंध अवश्य है और **निष्कर्ष**, **कसना** और **निकष** से भी।

कौड़ी का सबसे पहले विनिमय के लिए प्रयोग चीन ने 1500 ई.पू. में नहीं किया, यह मिश्र पिरामिडों के निर्माण काल में प्रचलित था। इसकी उपलब्धि का क्षेत्र न तो चीन था न मिश्र। यह कन्याकुमारी और श्रीलंका के पार्श्व के द्वीपों से जाता था, विशेष ख्याति मालदीव की थी। जिस कौड़ी से अफ्रीकी गुलाम खरीदे जाते थे वह **बालासोर**, ओडिशा से जाती थी। तरीका यह था कि नारियल का पेड़ पत्ती सहित काटकर समुद्री पानी में डाल दिया जाता था। पांच छह-महीने में कौड़ी के छत्ते के छत्ते उसमें चिपक जाते थे। छत्तों को अलग करके किनारे रेती में गाड़ दिया जाता था। दो-तीन साल में वे बड़-बड़ाकर मर जाते थे, उनकी सड़ांध वगैरह खत्म हो जाती थी तब उसे निकाला जाता था। एक रुपये में **ढाई से तीन हजार कौड़ी** का भाव था। **कपर्द** के प्रसंग में यह अधिक महत्त्व रखता था कि इसकी व्युत्पत्ति **कपाल** से है। इस कपाल का भी इतिहास से जो **घटखर्पर**, **कप्पड़**, **खपड़ा**, **कैप**, **कैपिटल** तक जाता है इसका बोध लेखक को है ही पर इन सूचनाओं को भी सलीके से नहीं रखा गया है। बाल संवारने के लिए जिस तरह बीच में मांग बनाई जाती है और बाल दोनों ओर दबाकर वेणी आदि बनाई जाती है उसके लिए **कपर्द** का प्रयोग चलता था और उसी के साम्य पर **कपर्दिका** का नाम पड़ा।

बुद्ध का मूल बुद्ध है यह भी कुछ ठीक नहीं लगता था। यह बुद्धबुदा कर पढ़ने के लिए गढ़ी गई धातु है। **फेन बुद्धबुद** वैदिक प्रयोग है। बुद्धि

की धातु बुद्ध ही है। इसी से **बुद्ध** के **बुदीत** और **बुत** बनने की यात्रा भी समझ में आएगी। बुद्ध का पुराना अर्थ जागना है, उषर्बुद्ध का ऋग्वेद में अर्थ है उषा की लाली फूटते ही जाग जाने वाला। बुद्ध का अर्थ हुआ जाग्रत विवेक।

चीनी के विषय में इस प्रवाद की गुंजायश नहीं थी कि इसे अंग्रेज चीन में बनाकर भारत लाते थे। चीनी के सारे कारखाने उसी सक्कर पट्टी में थे जहां से गिरमिटिया मजदूरों की भर्ती करके फीजी, ट्रीनीडाड, सूरीनाम और मारिशस आदि भेजे गए थे। चीनी चीन से नहीं चिन्न या बहुत छोटा से व्युत्पन्न है जो भोजपुरी के सक्कर क्षेत्र से लेकर तेलुगु तक व्याप्त है अतः किसी देसी बोली से निकला है। चिन्नी खांड (खंड), बूरा, रवा आदि से अधिक बारीक और अधिक सफेद होती थी। जिस चीनी को आज हम जानते हैं उसका देश के भीतर उसके उत्पादन के बाद भी प्रसार नहीं था, क्योंकि यह माना जाता था कि इसकी सफाई में गाय की हड्डी का प्रयोग किया जाता है। स्वतंत्रता के प्रथम उपहार विश्वव्यापी अभाव के दिनों में जब राशन की दूकानों में इसकी ही सप्लाई आरंभ हुई तो परहेज पर अभाव भारी पड़ा। यह रोचक है कि कई दूसरे विद्वान भी इस ध्वनिसाम्य से धोखा खा चुके हैं। चिन्नी से ही झिन्नी बना और झीनक—छोटा, झीनी चुनरिया—नितांत बारीक चुनरी।

ग्राम का पुराना अर्थ बस्ती नहीं समूह है। **ध्वनिग्राम**, **स्वर्ग्राम** आदि में वही है। लेखक इस अनुमान तक पहुंचता भी है पर प्रस्तुति गड्ढमड्ढ होने से समझने में समय लगता है।

मिश्री भी मिश्र से नहीं आई है न ही मिश्र उपनाम मिश्री से बना है। **मिश्र** यहां रवे का विलोम, पिंड का सूचक है। इससे अंग्रेजी के मिक्स आदि का संबंध है। इसे उसी देसी दानेदार गुड़ को साफ करके जमाया जाता था और ढोने-संभालने में हाथ लगने से मैली न हो इसलिए इसमें लालीपाप की तरह एक फांस लगा होता था।

नाग का मूल भारोपीय नहीं है न **नागः** मूल से निकला है। **नक्/नग्/मक्** जलवाची शब्द है। **नक्र** और **मगर** इसी से उत्पन्न है। जल सरकने बहने आदि के शब्दों का जनक है, चमक आदि का आशय भी इससे जुड़ता है। इसलिए **नाग**, **स्नेक** सरकने वाले आशय से जुड़े हैं और चमक वाला आशय **नग** और **नगीना** में है।

लेखक का मानना है, ‘अंग्रेजी का एक शब्द है पैलनकीन जिसका मतलब है एक खटोला जिसे चार या उससे अधिक लोग कंधों पर उठाएं। हिंदी में इसके लिए पालकी या डोली कहते हैं’ परंतु इस शब्द यात्रा और यात्रा की दिशा को क्या कहते हैं? अधिकांश शब्दों के

विवरण में मूल और विकास और प्रसार की दिशा गड़मड़ है। पालकी का मूल पर्यक नहीं, पालना है।

कुशः का एक अन्य नाम **दूर्वा** या **दूब** नहीं है। ये दोनों घास की अलग किस्में हैं। **कुश** की पत्ती नुकीली होती है और चुभती है, जिससे **कुशाग्र** बना है। दूब की नहीं। इसे दही, अक्षत आदि के साथ मांगलिक प्रयोजन से रखा जाता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि कभी अभाव के दिनों में लोग दूर्वा खाकर भी गुजर करते थे। कुश की चट्टाई बनती है, मुद्रिका बनाकर संकल्प के लिए पहनाया जाता है, आदि और इसके गाभे को बारीक चीरकर **कुशचीर** बनाया जाता था, जिसको बहुत बारीक बनाना एक बड़ी विशेषता थी। **चीर** पहली बार इसी के लिए प्रयोग में आया और इसी के चीरने की ध्वनि चीरने की संज्ञा बनी। इसे **कौशेय** भी कहते थे जो बाद में चलकर रेशम का पर्याय बन गया। **कुशल** इसी कारीगर के लिए प्रयुक्त होता था और **कौशल** इस कुशल से, जैसे बाद में बारीक पट बनाने वाले के लिए **पट्टु** का प्रयोग चला और **पट्टुता** निपुणता के आशय में चल गया। कुश की पवित्रता भी इसके एक उपयोग के कारण ही प्रतीत होती है।

मेघ शब्द का अंग्रेजी के **मड** यानी कीचड़ शब्द से गहरी रिश्तेदारी तलाशना ठीक नहीं। न ही दोनों में कोई इंडोयूरोपियन मूल का है। मड़िया मारने का अर्थ कीचड़ में सनना होता है, **मड** का अर्थ पानी में मिली मिट्टी है। **मृदु, मुद, मुतु, मत्, मद्र, मुत्** सबका अर्थ जल है। जिनके रूढ़ अर्थ से हम परिचित हैं। विसरण की दिशा क्या है? इस तर्क को समझने में इंडोयूरोपियन की अवधारणा सहायक नहीं हो सकती। **मघ/मध, मिघ/मिध, मिद्ध, मीढ, मेढ, मेह, मह, मिह, मधु, महु, मउ** सबका मूल जल, परंतु जल के इतने पर्याय भारतीय भाषाओं में क्यों?

शालि, शाला चाल कतार पर आधारित नहीं है। **शल्, छल, शल्क, छिल्का, छोला**—चना, **खोला, झोला, झुल्ला**—स्त्रियों का आधी बांह का पहनावा जो ब्लाउज से पहले चलन में था, **झुल्ल**—हाथी का आवरण, **शाल**—चादर, घेरा, आवास, **खाल**—काया का आवरण, **शाला**—बड़ा आवास, **शालि, चाल** के साथ आवरण का भाव है। वह घर हो या घेरा या गुफा। **शाली**, जिसे **शालिन्** भी कह लें, 'वाला' का अर्थ भी रखता है, जैसे **शक्तिशाली** अर्थात् जिसमें शक्ति का निवास हो। पर—**वाला** क्या **वाल** या **वार** से या घेरे से संबंध नहीं रखता? '**शाल**' के बड़े आकार के कारण शाल वृक्ष, **विशाल, वैशाली**। जिस **शल्/श्ल** से तेलुगु आदि में प्रचलित **साल, शाल, सरणि** और उर्दू के **सैर** और **सैलानी** आदि का संबंध है वह गति और संचलन से संबंध रखता है—



'श्लकि गतौ' और जिस **श्लु** से **श्लोक** निकला है वह ध्वनि से पर **श्र, श्ल, श्रु, श्लु** ये जल से उत्पन्न ध्वनियां हैं और यदि श्लु से श्लोक बना तो **श्रु** से **श्रव**—ख्याति, **श्रवण, श्रुति, श्रोता** और **श्रवणेंदिय** अर्थात् कान। समध्वनिक शब्द सुनने में एक होते हैं, मूलतः अनेक होते हैं। **चाल, चलन, चरण** और **चालू** का क्रम **सर, सर्पण, सरण, सरणि** के साथ रखकर समझा जाय तो हम कुछ उलझनों से बच सकते हैं। इसलिए लौकिक प्रयोगों का अनुगमन करते हुए ही धातुओं से भी कुछ सहायता ली जा सकती है।

जिन कोशों से हम परिचित हैं वे मुख्यतः यूरोपीय विद्वानों द्वारा तैयार किए गए हैं जिनके श्रम, निश्चय और अध्यवसाय के सम्मुख नतशिर होना पड़ता है, पर जिस समझ से या जिस समझ का विस्तार करने के लिए ये कोश तैयार किए गए उनके कारण कुछ उलट-पटल हो गया है, अर्थ में भी खींचतान की गई है। उदाहरण के लिए वे सभी यह सिद्ध करने को कटिबद्ध थे कि संस्कृत यूरोप से चलकर भारत आई अतः जिस दिशा से आई उसके सगोत शब्द यहां तक कि उसकी बोलियों तक में पाए जाने वाले प्रतिरूप अधिक पुराने हैं। यह जिन पूर्वाग्रहों से प्रेरित था उसकी बुनियाद ही उखड़ गई फिर भी कंप्यूटर पर और पुस्तकालयों- संग्रहालयों में और इंटरनेट पर जो कुछ प्रचुरता से उपलब्ध है वह उसी कारखाने में तैयार की गई सामग्री है। इसे अद्यतन करना आसान है पर इसमें कोताही की जाती है। भारतीय विद्वानों को पश्चिमी विचारों के साथ जुड़ना कीर्तिकर लगता है और वह है भी। इसका सबसे ताजा उदाहरण आर डी सरदेसाई की

पुस्तक (D.R.Sar Desia, (University of California, Los Angeles) INDIA : The Definitive History, 2008, p. 48) है। लेखक वैदिक काल को 1200 ई. मानकर पूरा अध्याय लिखता है और इस अध्याय के परिशिष्ट में साहित्य, इतिहास, परंपरा, नृत्य, पुरातत्व, जीनविश्लेषण सभी दृष्टियों से निर्णायक प्रमाण इसके खंडन में प्रस्तुत करता है पर फर्माता है : In conclusion, the Aryan invasion-migration myth seems to have imploded. However, one needs to explain the commonality between the vocabulary of Sanskrit and some European languages the so called group of Indo-European languages. ध्यान दें मान्यता ध्वस्त हो गई फिर भी उसे इसकी केवल प्रति हो रही है, विश्वास नहीं और विश्वास उस पर जमा रहता है, जिसको वह स्वयं भी मिथक मानता है और भाषाओं में पाई जाने वाली समानताओं की आड़ में वह उसी तौक को गले लगा लेता है। वह कैलीफोर्निया में अपनी साख की अधिक चिंता करता है, एक इतिहासकार के रूप में अपनी साख की कम। पुस्तकों, पत्रिकाओं, इंटरनेट पर उपलब्ध सूचनाओं का भंडार बनने और अपनी समझ से काम लेने वाले अध्येताओं को मैं रोबोटीकृत विद्वान मानता हूं। अजित वडनेरकर की सबसे बड़ी सीमा यही है। देखने में प्रभावशाली यह पुस्तक मलबे की ढेर बनकर रह गई है। मुझे कोई अंश ऐसा नहीं मिला जिसमें आदि से अंत तक कोई विचलित करने वाला नुक्ता न आ गया है। लव लुभू से संबंधित है, सही। उत्साह में आकर बिलीफ को भी डालकर किए कराए पर पानी फेर दिया। जरूरत है पूरी पुस्तक में मौलिकता की निराई करने, समध्वनिक (होमोफोनिक) शब्दों को अलगाने, बह्वर्थता (पोलीसेमी) के तर्क और कारणों को पहचानने, कोशों का विवेकपूर्ण उपयोग करने और अन्य भारतीय भाषाओं में पाए जाने वाली शब्दसंपदा से परिचित होने की। यदि यह संभव न हो तो जरूरत है संयम बरतने और कोई नया काम करने की।

शब्दों का सफर : हिंदी शब्द संपदा के जन्मसूत्रों की तलाश और विवेचना, पहला पड़ाव/अजित वडनेरकर/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-वी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 600.0

ए-6, सिटी अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एंक्लेव, दिल्ली-110096 मो. : 09868083965

अंधेरे के विरुद्ध अभियान

केवल गोस्वामी

पे

रिन दाजी की किताब 'मादों की रोशनी' उस युग का, उन साथियों का, उन संघर्षों का, उन उपलब्धियों का जीवंत बयान है जो आज की पस्त स्थितियों में खड़े रहने का हौसला देता है। इसी पुस्तक के संपादक विनीत तिवारी ने भूमिका में लिखा है—“किताब खुद मेरे लिए भी उस वक्त में झांकने की खिड़की है जब समझदार और समर्पित कामरेड्स की एक टीम संघर्ष कर रही थी, मजदूर तबके में बदलाव की उम्मीदें लाल झंडे की तरह सुर्ख होकर परवान चढ़ रही थीं, प्रगतिशील और जनवादी ताकतों और मूल्यों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही थी।” जो आज नहीं हो रहा।

उपरोक्त इबारत अतीत के दृश्य को उजागर करती है। विनीत का मानना है कि यह तब था आज नहीं है। दरअसल पूरी किताब में लगभग यही ध्वनि है—वह आगे कहते हैं, “ये सच है कि आज इंदौर क्या पूरा देश ही वह नहीं है जो होमी दाजी या उनके साथियों के वक्त में था। आज मजदूर आंदोलन भी कमजोर हुआ है। आज की राजनीति को भी सत्ताधारियों (वामपंथ समेत) इतना भ्रष्ट और पतित कर दिया है कि भले लोग उससे दूर रहना चाहते हैं।” इस टिप्पणी में भी यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि मजदूर आंदोलन क्यों कमजोर हुआ, कम्युनिस्ट पार्टियों में दरार क्यों आई, अंततः वामपंथ अप्रासंगिक क्यों हो गया।

संभवतः पहली लोकसभा में कम्युनिस्ट पार्टी मुख्य विपक्षी दल के रूप में उभरी थी। इसी दल ने अपने बूते पर केरल में आजादी के बाद पहली कम्युनिस्ट सरकार बनाई थी। सांस्कृतिक जनपक्ष—प्रगतिशील लेखक संघ के रूप में इतना मजबूत था कि वह

सांप्रदायिकता, सामंतशाही, साम्राज्यशाही के विरुद्ध एक अखिल भारतीय आंदोलन के रूप में उभरा। देश की परिस्थितियां बदलीं। कम्युनिस्ट पार्टियों का विभाजन हुआ और मुख्य शत्रु से लड़ने की बजाय परस्पर संघर्ष शुरू हो गया और दक्षिणपंथी पार्टियों ने इसका भरपूर लाभ उठाया। भा.ज.पा. संसद में दो सदस्यों से दो सौ सदस्यों तक पहुंच गई और केंद्र में सत्ता का सुख भी भोगा। इसके विपरीत लगभग साढ़े तीन दशक तक पश्चिमी बंगाल में शासन करने के पश्चात वाम सरकार को हार का मुंह देखना पड़ता। इसका मुख्य कारण सत्ता का नशा तो था ही इसी के चलते कुछ गलत रीतियां और नीतियां भी थीं।

कई बार प्रश्न मन में उठता है, जिस देश में गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, भुखमरी अपनी चरम सीमा पर हो वहां पर मजदूर दोस्त पार्टी की इतनी बेचारगी क्यों? क्या यह सिद्धांत और व्यवहार में चौड़ी खाई के परिणामस्वरूप है? क्या ऐसे प्रश्नों के उत्तर समय रहते ढूँढे



नहीं जाने चाहिए।

इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात ऐसा विश्वास होता है कि होमी दाजी या उनके समकालीन यदि मजदूर आंदोलन को चरम सीमा पर पहुंचा सकते हैं तो यह संघर्ष के प्रति उनकी अटूट निष्ठा के कारण ही थी जो बाद में धीरे-धीरे क्षरित होती गई और अंततः वामपंथी नेताओं ने भी सुविधा की सरल राह ही पकड़ी—“इंदौर के प्रसिद्ध वकील आनंद मोहन माथुर जवानी में ही दाजी के करीबी दोस्त रहे हैं। माथुर जी इष्टा में थे तब से दाजी को जानते हैं। वह कई बार कहा करते थे—“दाजी आराम से सुप्रीम कोर्ट का जज बन सकता था पर उसने वह रास्ता न अपनाते हुए गरीब जनता और मेहनतकश मजदूरों की सहायता करने का रास्ता अपनाया।” (पृ. 84) कालांतर में ठीक इसके विपरीत हुआ : अधिकांश पार्टी कारकूनों में और मेहनतकश वर्ग में रिश्ता नाम का ही रह गया।

दाजी के कार्यकाल में भी परिस्थितियां बहुत अनुकूल नहीं थीं। लोकसभा चुनाव के वक्त भी दाजी के पास चुनाव लड़ने तथा उसकी जमानत की राशि भरने के लिए पैसे नहीं थे। उसकी मां ने अपनी सुहाग की निशानी शादी की अंगूठी बेचकर यह कमी पूरी की क्योंकि यह काम उन्हें गरीबों के भले का लगता था। महत्त्वपूर्ण यह भी कि दाजी अपने काम को भली-भांति जानते थे और चुनाव जीतकर उन्होंने यह काम बहुत हद तक पूरा भी किया। संसद में नेहरू का कहना था—‘ही इज अ ब्रिलिएंट ब्याय’ उस समय दाजी सबसे कम उम्र के सांसद थे। नेहरू ने आगे कहा—“पता नहीं यह लड़का कहां-कहां से चीजें ढूँढकर लाता है और हमसे पार्लियामेंट में इतने सवाल करता है कि हमें मुश्किल हो जाती है।” वह जमाना था जब संसद में और

संसद के बाहर पार्टी की सशक्त उपस्थिति महसूस होती थी। हार-जीत तब भी होती थी पर आज की तरह शर्मनाक नहीं कि शुरू से आखिर तक सबकी एक साथ जमानत जब्त। दिल्ली जैसी राजधानी में कोटला रोड पर पार्टी हेडक्वार्टर अजय भवन है, रसूख से या लिहाज से कोटला रोड का नाम बदलकर कामरेड इंद्रजीत गुप्ता रख दिया गया। उसी सड़क पर नुक्कड़ वाली पान की गुमटी वाले से पूछा कि यह सड़क अब किसके नाम से जानी जाती है तो “वह हैरान होकर मुंह ताकने लगा। यह सर्वथा सुविधाजीवी कार्य पद्धति का ही नतीजा है।” मात्र रसम अदायगी से क्रांति नहीं होती कि सौ-पचास लोग इंकलाब जिंदाबाद का मरी हुई आवाज में नारा लगाते हुए (जिसे वह भव्य जुलूस कहेंगे) जंतर-मंतर तक हो आए या राजघाट को छू आए तो बस हो गया— इसका भी उन्हें मलाल है कि मीडिया उनका नोटिस क्यों नहीं लेता। वह इसलिए कि नोटिस में आने जैसी कोई बात आए बहुत कम करते हैं और जरा कभी करते हैं तो नोटिस में आता है। पर इसमें निरंतरता नहीं है। सत्तादल के (कांग्रेस) साथ रहें या विरोध में रहें इस दुविधा को शांत किए बिना खोई हुई जमीन नहीं मिल सकती। सतत जन-संपर्क और जनसंघर्ष और परिणामोचित कार्यक्रम दाजी की सफलता के कारण थे जो कारण आज नहीं के बराबर हैं।

यह पुस्तक और इस प्रकार की अन्य पुस्तकें अंधेरे में रोशनी का काम कर सकती हैं और आज भी इस प्रकार के मेधावी हैं जो यह करके दिखाने की शक्ति, दृष्टि और विचार रखते हैं पर दुर्भाग्य यह है कि जिसे जहां होना चाहिए वह वहां पर नहीं है और जिसे नहीं होना चाहिए वह धरना देकर बैठा है। इस लिहाज से यह पुस्तक न केवल पठनीय है अपितु अनुकरणीय भी है।

यादों की रोशनी में/पेरिन दाजी/विनीत तिवारी/ नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वूमन/अंसल भवन, 16 कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-110001 तथा मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ इंदौर, 163, महादेव तोतला नगर, रिंग रोड, इंदौर-452018, मूल्य : ₹ 60.00 (पे.बै.)

जे/363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076, मो. 9871638634

संस्मरण

गुज़िश्ता वक्त का खैरमक़दम

ज्ञानप्रकाश विवेक

इ

धर, हाल ही में प्रकाशित कुछ किताबों ने नई तरह की हलचल पैदा की है। इन किताबों ने पुराने और आजमूदा विषयों की तहरीर और उसलूब में ऐसी तोड़-फोड़ मचाई है कि एक नई बहस ने जन्म ले लिया है। यह शायद इसलिए संभव हो रहा है कि हमारे वक्तों के कुछ अदीबों की चिंताएं और वैचारिक यात्रा, इतनी मानीखेज़ और बेचैन कर देनेवाली होती है कि उनकी अभिव्यक्ति किसी विधा (सिन्फ़) विशेष तक महदूद नहीं रहती। और इस तरह हमारे समय के बड़े अदीबों ने अपनी विधाएं खुद ईजाद की हैं। गुलज़ार ने यही किया है।

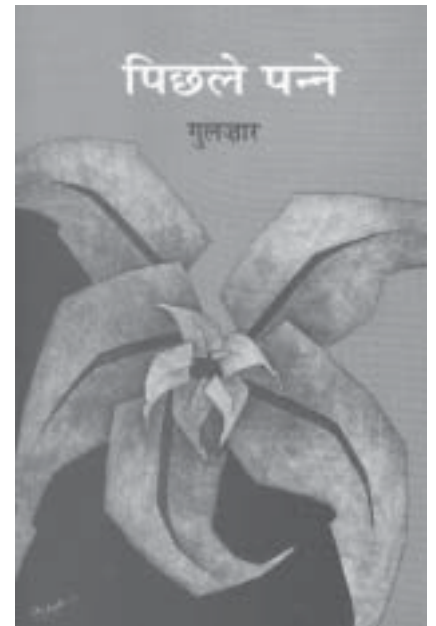
गुलज़ार हद दर्जे के प्रयोगधर्मी शायर और नम्रनिगार हैं। वो संस्मरण लिखते हैं तो संस्मरण के अनेक पाठ (और अंतरपाठ) बड़ी शिद्दत के साथ बाहर आ खड़े होते हैं। वो कभी अफसाना तो कभी ‘स्मृतियों’ की तवील नज़्म महसूस होने लगते हैं। गुलज़ार सिर्फ संस्मरण ही नहीं लिखते, वो गुज़िश्ता वक्त को, दृश्यों में बदलने का तिलिस्म रचते हैं।

गुलज़ार की नई किताब—‘पिछले पन्ने’ में यही तिलिस्म है। इसे संस्मरण की किताब कहें तो किताब की शर्रिसयत के साथ खिलवाड़ करने जैसा होगा। पूरी किताब एक ‘सरमाया’ है जहां गुलज़ार ने अपनी बेशकीमती यादों को छोटी-सी कहकशां में तबदील कर दिया है।

ऐसे बाज़ारवादी समय में जब सूचनाओं का हाहाकार मचा हो और आत्मकेंद्रित होता हर शर्र्स इतना यांत्रिक हो चुका हो कि उसके सामने सुविधाओं का अंबार हो लेकिन स्मृतियों का शून्य!

ऐसे बेगरज़, बेमुरब्ब, बेलिहाज़ और बे-रब्ब समय में गुलज़ार की इस किताब से पैदा हुआ—‘स्मृति राग’ एक विलक्षण-सी धुन पैदा करता है। और आश्वस्त करता है कि स्मृतियों की बेशक बहुत कम जगह बची हो, वो पूरी तरह से खत्म नहीं हुईं।

किताब में संस्मरण (या संस्मरण कथाएं) छोटे-छोटे हैं। ये सब एक बड़े शायर की रचनाएं हैं। गुलज़ार के पास अनुभवों का ताप है और अल्फ़ाज़ को बरतने का सलीका भी। गुलज़ार किफ़ायतशायर नम्रनिगार हैं। यहां गद्य में व्यर्थ का फैलाव नहीं। इन संस्मरणों की संक्षिप्तता इनका गुण है और भावनाओं का आवेग इन संस्मरणों को ताक़त देता है। गुलज़ार का गद्य, जिनमें अनुभव, यादें, संबंध, यात्राएं, दुख, मृत्युबोध, चिंतन तथा गुज़र चुके दौर का ‘वातावरण’ भी शामिल है—एक ऐसी कशिश पैदा करता है कि संस्मरण समाप्त हो जाने के बावजूद, हरास्त-सी



महसूस होती रहती है।

यह छोटी-सी किताब बड़े अदब के साथ जैसे कह रही हो कि संस्मरण यूं भी लिखे जाते हैं कि वो संस्मरण हो जाएं, कहानी हो जाएं, नज़्म हो जाएं और अंत! अंत ऐसा कि बेसाख्ता दिल से एक हूक-सी निकले।

इन संस्मरणों में गुलज़ार अपने 'गुज़िश्ता' को एक बार फिर ज़िंदा करते हैं और ज़िंदा होते समय दुख-सुख, राग-विराग, रिश्तों की आवाजाही, दोस्तों का खुलूस, अदबी और ग़ैर अदबी नशिस्तें तथा यात्राओं की थकान सबके सब ज़िंदा हो उठते हैं। संस्मरणों में, गुलज़ार अपने 'माज़ी' को दूसरा जन्म देते हैं।

संस्मरणों की एक खास तरह की गूँज है। जैसे कि ज़िंदगी के अकेले और उदास पहाड़ पर खड़ा कोई गडरिया बांसुरी बजा रहा हो। बिमल राय, साहिर लुधियानवी, भूषणवनमाली, कुलदीप नैयर और शैलेंद्र पर लिखे गए संस्मरण न सिर्फ आत्मीय हैं, बल्कि मानवीय सरोकारों से लबरेज़ भी हैं। यहां सिर्फ यादें नहीं। तसव्वुर ही नहीं बल्कि बड़ी शिखियतों को याद करने का एक आदाब भी है। गुलज़ार की फ़नकारी यह है कि वो संस्मरण में भी 'कथातत्त्व' की रचना करते हैं तो फ़ंतासी, यथार्थ और स्मृतियों की एक नशिस्त-सी मुनक्क़द हो उठती है। यहां उस दौर के माहौल को गुलज़ार ऐसा रचाते-पकाते हैं कि वो भी किसी 'किरदार' जैसा प्रतीत होने लगता है। बिमल राय पर लिखे गए संस्मरण में मेले, शूटिंग, स्क्रिप्ट जैसी बातें हैं तो बिमल राय का दिलकश व्यक्तित्व और उनका विजन भी उभरकर आता है। जग स्नान में जीवन की गति और लय के पसःमंज़र प्रतीक हैं तो यही जोग स्नान (8 जनवरी, 1965) मृत्युबोध का भी अहसास कराता है। यहां काम की शिद्दत को तहरीर करते हुए, गुलज़ार, मौत की बे-आवाज़ आहटों की भी जगह बनाते चलते हैं।

साहिर, भूषण वनमाली और कुलदीप नैयर पर लिखे गए संस्मरण बेहद दिलकश हैं। साहिर जितने बड़े शायर थे, उतना बड़ा फ़क्कड़पन भी उनमें मौजूद था। संस्मरण में जावेद अख़्तर और साहिर के जज्बाती, संबंधों की महीन-सी तार है। साहिर नौजवान और बेचैन जावेद अख़्तर की साइकी समझते हैं।

और उसे (जावेद को) गुमराह नहीं होने देते। संस्मरण में गुलज़ार ज़िंदगी की जिस विडंबना को व्यक्त करते हैं वो सकते में डाल देती है। साहिर अपने दोस्त डॉ. कपूर का हालचाल पूछने उनके घर जाते हैं। डॉ. कपूर को दिल की बीमारी थी। अपने दोस्त डॉ. कपूर का दिल बहलाने की खातिर ताश बांटते हैं। ताश के पत्ते बांट चुकने के बाद साहिर ताश की बाज़ी नहीं खेल पाते। वो ऐन उस वक़्त ज़िंदगी की बाज़ी हार चुके होते हैं।

माशकिल एंजिलो पर संस्मरण नहीं, एक दिलकश तबसरा है और वो इतना दिलफ़रेब है कि संस्मरण की गूँज पैदा करता है। गुलज़ार यहां भी अंत को छुपाकर रखते हैं। और अंत किसी अफ़साने की शकल में होता है। क्या वजह है कि कुछ चेहरे हांट करते रह जाते हैं और वो बाद मुद्दत, किसी चुपज़दा सानेहा के साथ फिर आ मिलते हैं, जैसे कि मारसोलेनी।

लेकिन गोरख पांडेय पर लिखा गया संस्मरण उलझकर रह गया है। गुलज़ार ने गोरख पांडेय पर लिखा ज़रूर है लेकिन यहां एक फासला साफ़-साफ़ नज़र आता है और यही फासला दिक्क़त पैदा करता है। बाक़ी संस्मरणों में जैसे खुलूस भी एक राग की तरह है। यहां उसी राग की अनुपस्थिति है।

भूषण वनमाली के संस्मरण में लताफ़त है और एक ऐसा ठाठ भी जो फ़क्कड़पन से छनकर आता है। भूषण वनमाली के इस संस्मरण में, एक यात्रा का भी संस्मरण है जो भूषण वनमाली के साथ जोशीमठ और आगे तक फूलों की घाटी तक तय होती है। इस यात्रा संस्मरण की एक खास बात ये है कि गुलज़ार ने इस लहज़े में तहरीर किया है कि हर बात, हर शय, हर वाकया, 'दृश्य' में बदल जाता है। गुलज़ार अतीत को रिफ़्लैक्ट करते हैं। आखिर में जब वर्तमान में लौटते हैं तो फिर वही मारक अंत! इसी तरह के मार्मिक अंत दुंबा और गागी और सुपरमैन जैसे संस्मरण में। गागी और सुपरमैन तो बहुत व्याकुल कर देनेवाला वृतांत है जब गागी (गुलज़ार की बेटी की फ्रेंड) की टांग काट देनी पड़ती है और वो अपने पिता से पूछती है—“पापा, गॉड मुझे क्यों ‘पनिश’ कर रहा है? मैंने तो कुछ किया नहीं?” दरहकीकत, यह मासूम-सा सवाल, ईश्वर की

सत्ता को चुनौती देता प्रतीत होता है।

शहरयार पर लिखा गया तबसरा, शहरयार की शायरी को केंद्र में रखकर लिया गया है। यह उस किताब की भूमिका भी है जो ज्ञानपीठ से—‘सुनो शहरयार’ नाम से प्रकाशित हुई थी। यह भूमिका, शहरयार की गज़लों-नज़्मों पर एक महीन वैचारिक और जज्बाती टिप्पणी है। यह टिप्पणी या संवेदनशील तबसरा, पहले ‘ज्ञानोदय’ में प्रकाशित हुआ बाद में ‘सुनो शहरयार’ किताब की भूमिका के रूप में। यहां दो अदीबों की संगत है। गुलज़ार और शहरयार! यहां दो अदीबों के अपने-अपने इलाक़े हैं। एक की किताब है, दूसरे का तबसरा! दोनों का क़द बड़ा है। और किताब में दोनों अदीब मिलकर, शायरी के मेयार को और ऊंचा करते हैं।

किताब के आखिर में पोर्ट्रेट्स और मर्सिये शामिल हैं। इन्हें गहरी संवेदना, प्रबल भावना और उच्चकोटि के संस्कारों के साथ रचा गया है। गुलज़ार जब भी नज़्म लिखते हैं वो भावना का पर्यावरण-सा रच देते हैं। इस किताब में भी वही आवेग वही संवेग है। सलिल चौधरी पर लिखी कुछ पंक्तियां गौरतलब हैं—‘कंपकपाती हुई तालाब के पानी की सतह/सूत के तागों से बांधे हुए सैलाब का शोर/हल्की-सी ज़र्ब से, झन्ना के बज उठते हैं।’

गुलज़ार, इमेजिस के शायर हैं। कल्पनाशीलता को वो दृश्यों में रचते हैं तो स्मृतियों की छवियां भी पोर्ट्रेट्स में नुमायां होने लगती हैं। गुलज़ार के पास अल्फ़ाज़ को गरिमा और विनम्रता देने की जादुई ताक़त है।

किताब का नाम है ‘पिछले पन्ने’! यानी, ज़िंदगी की किताब के वो आख़री पन्ने, जहां यादों का दशत खेमाज़न था। नाम प्रतीकात्मक है और सम्मोहन पैदा करनेवाला भी।

पिछले पन्ने (संस्मरण)/गुलज़ार/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 130

1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507, हरियाणा
मो. : 09813491654

लेखक-यात्री के साथ रोमानिया की सैर

वीरेंद्र शर्मा

वि

श्व के अनेक देशों की भांति रोमानिया के निवासियों में भी भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति विशेष अनुराग है। समीक्ष्य पुस्तक में हिंदी भाषा और साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान डॉ. सियाराम तिवारी की रोमानिया-यात्रा का अत्यंत मनोरम और रोचक वर्णन है। वस्तुतः यह पुस्तक डायरी है, यात्रा-वृत्तांत है और यात्रियों के लिए मार्ग-दर्शिका भी है।

भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों के मर्मज्ञ, अनेक शोध मूलक, गहन चिंतनपरक ग्रंथों के लेखक डॉ. तिवारी का समालोचना-क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान है।

लोक प्रतिष्ठित विश्व भारती, शांति निकेतन से हिंदी विभागाध्यक्ष एवं मानविकी तथा समाज विज्ञान संकायाध्यक्ष पद से सेवा निवृत्त डॉ. सियाराम तिवारी के आचार्यत्व में भारत तथा विदेशों के अनेक प्रतिभावान शिष्यों ने उच्च शिक्षा ग्रहण की है। प्रसंगतः उनमें से एक हैं डॉ. इमैरे बंधा, जो 'सपिएंत्सिया हंगेरियन यूनीवर्सिटी ऑफ ट्रेसिलवेनिया, क्येर्कुर्याचुक में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं। इसी विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर तिवारी जी ने रोमानिया की तीन सप्ताह की—14 जून-3 जुलाई 2006 की यात्रा की।

डॉ. सियाराम तिवारी के साहित्यिक कृतित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जिस विषय पर लिखने का संकल्प कर लेते हैं, वे उसके संबंध में बड़ी गहनता एवं तन्मयता से उसका अध्ययन और चिंतन करके अपना मंतव्य सुस्पष्ट रूप से सहज, सरल शैली में प्रतिपादन कर देते हैं। इस प्रकार उनके ग्रंथ अपने विषय के प्रामाणिक, मानक ग्रंथ सिद्ध होकर विद्वत्समाज में चर्चित और प्रशंसित हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भी तिवारी जी ने

रोमानिया यात्रा संबंधी समस्त आवश्यक सूचना-सामग्री समाहित कर दी है। रोमानिया—एक झलक में रोमानिया का इतिहास, भूगोल, उसके प्राकृतिक संसाधन, उसकी जनसंख्या, राजभाषा, रोमानिया का वर्तमान शासन, प्रशासन आदि बिंदुओं पर संक्षिप्त रूप में आवश्यक संपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

पूर्व पीठिका में रोमानिया-यात्रा के लिए नई दिल्ली में स्थित रोमानिया दूतावास से प्राप्तव्य वीजा संबंधी प्रक्रिया, तत्संबंधी व्यावहारिक कठिनाइयां, यात्रा के लिए वायुयान कंपनी से टिकट, यात्रा-कार्यक्रम आदि प्राप्त करना आदि पर सूचना दे दी गई है।

तिवारी जी पटना से दिल्ली आए—दिल्ली से मेट्रो में यात्रा की। दिल्ली से आस्ट्रिया की राजधानी वियना वायुयान द्वारा गए और फिर वियना से बुकारेस्ट वायुयान द्वारा पहुंचे। बुकारेस्ट से अपने गंतव्य क्येर्कुर्याचुक तक रेलगाड़ी द्वारा उन्होंने अपनी यात्रा पूरी की। वहां वे विश्वविद्यालय के अतिथिगृह में ठहरे। विश्वविद्यालय के भवन, वहां की शिक्षण व्यवस्था,



नगर की यातायात सुविधाएं, सार्वजनिक स्थान, बाजार, धार्मिक एवं समाज कल्याण संबंधी स्थान, रोमानिया निवासियों का शिष्टाचार, भारत के प्रति उनका प्रेम, भारतीय साहित्य के प्रति विद्यार्थियों में विशेष जिज्ञासाएं, आदि पर पुस्तक में बड़ी रोचक पठनीय सामग्री उपलब्ध है।

तिवारी जी ने मानव प्रकृति एवं नैसर्गिक रमणीयता के जो शब्द-चित्र अंकित कर दिए हैं, उनमें पाठक रसास्वादन करते हुए ऐसा मग्न हो जाता है कि उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह स्वयं लेखक के साथ रोमानिया की सैर कर रहा है।

तिवारी जी, 'श्री रामचरितमानस' के प्रकांड विद्वान हैं। उन्होंने अपनी रोमानिया यात्रा में तुलसी साहित्य पर व्याख्यान दिए, विद्यार्थियों, शोधकर्ताओं की शंकाओं का समाधान किया और पत्रकार द्वारा किए गए साक्षात्कार में तुलसी साहित्य की लोकप्रियता और उसकी विश्व प्रतिष्ठा पर प्रकाश डाला और इस प्रकार यात्रा-वृत्तांत में भक्ति रस का समावेश कर दिया है।

रेलगाड़ी में यात्रा के समय एक रोमानिया की युवती के प्रसंग में लेखक ने शृंगार-रस का भी छीटा लगा दिया है—

“सर्व ढके सोहत नहीं, उधरे होत कु-वेस।
अर्ध-ढके छवि पात हैं, कवि अच्छर कुच केसा॥”

(पृ. 68)

सुधी पाठक इस पुस्तक का रसास्वादन करके अनेकशः लाभान्वित होंगे।

रोमानिया-यात्रा की डायरी/डॉ. सियाराम तिवारी/ गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, राष्ट्रभाषा हिंदी भवन, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद/मूल्य : 225

बी-7, वसुंधरा एंक्लेव, दिल्ली-110096

सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

भा

रतीय मूल की कथा लेखिका सुधा ओम ढींगरा एक लंबे अरसे से अमेरिका में प्रवास कर रही हैं। हिंदी साहित्य में उनकी रुचि है और कविता एवं कहानी लेखन में वे सक्रिय हैं। उनके कई कहानी- संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सम्प्रति—वे उत्तरी अमेरिका से निकलने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी चेतना' का संपादन कर रही हैं।

उनकी कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' को पढ़कर यदि लोकेल की बात छोड़ दी जाए तो यथार्थ का रंग भारतीय जीवन-समाज के परिवेश से गहरा मिलता है। कहानी की भाषा सशक्त है और यह कहानीकार की सफलता है कि अमेरिकी परिवेश के एक ऐसे यथार्थ से वे हमारा परिचय कराती हैं जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस कहानी को पढ़कर मन पर एक बड़ा प्रभाव यह पड़ता है कि प्रवासी लेखकों द्वारा लिखी गई कहानियों का चेहरा समकालीन हिंदी कहानीकारों से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

सूरज पूरब में ही नहीं पश्चिम में भी निकलता है। पूरब वाले जानते हैं कि सूरज डूबता पश्चिम में है और पश्चिम वाले सूरज को पूरब में डूबते हुए देखते हैं। सूरज द्वारा दिशा बदलने से यथार्थ का रंग भी बदल जाता है। भारत और अमेरिका के यथार्थ में जमीन-आसमान का फर्क है। वहां की सरकार सिंगल पैरेंट्स, खासकर मां के 18 वर्ष की उम्र तक के बच्चों की परवरिश का जिम्मा उठाती है, जिसके कारण वे बच्चे निठल्ले और कामचोर हो जाते हैं। भारत की स्थिति बिल्कुल उलट है। यहां की सरकार को किसी के जीने-मरने की कोई चिंतानहीं और न ही अपने नागरिकों की कोई जिम्मेदारी ही है। यथार्थ के इन दोनों

चेहरों में एक बड़ा अंतर्विरोध है। अमेरिका एक संपन्न राष्ट्र माना जाता है और भारत एक गरीब देश। लेकिन विडंबना की बात यह है कि संपन्न देश से भी सरकारी सुविधाओं के कारण वैसे ही नागरिक पैदा हो रहे हैं जैसे इस देश के। कारण स्पष्ट है सुखी जीवन जीने की महत्वाकांक्षा और लालसा। बस यदि कोई फर्क है तो यह कि वहां के निठल्ले-बेकार युवक भीख मांगते अमेरिका की मंदी को कोस रहे हैं, जबकि हमारे यहां के सुदूर निरक्षर, अशिक्षित, आदिवासी, गरीब मजदूर को यह तक पता नहीं है कि हमारे देश का नाम क्या है और इसकी राजधानी कहाँ है?

आज के अधिकांश हिंदी कहानीकारों, प्रवासी सहित को ठीक से यह बात नहीं मालूम कि कहानी में वे क्या लिख रहे हैं और क्यों लिख रहे हैं। आजकल हिंदी में दो प्रवृत्तियां काफी सक्रिय हैं—कवियों द्वारा कहानियां लिखना और कहानीकारों द्वारा कविता में कहानी लिखना। दूसरी प्रवृत्ति है खूब लंबी कहानियां लिखना। हम जानते हैं कि बड़े से बड़े उपन्यास चाहे वह टालस्टॉय का 'वार एंड पीस' हो, दोस्तोवस्की का 'क्राइम इन पनिशमेंट' या फिर जां फ्लावेयर का 'अधूरा स्वप्न' या फिर छोटे से छोटा उपन्यास अर्नेस्ट हेमिंग्वे का 'द ओल्ड मैन एंड द सी' की कथावस्तु मुश्किल से दो पंक्तियों की होती है। कोई जरूरी नहीं कि हर मोटा उपन्यास क्लैसिक ही हो। यदि टालस्टॉय, दोस्तोवस्की और जां फ्लावेयर के मोटे उपन्यास क्लैसिक बन गए तो इसका मुख्य कारण विषयवस्तु का घेरा है। जहां तक हेमिंग्वे के उपन्यास का सवाल है, यह उपन्यास बहुत छोटा यानी 100 पृष्ठों से भी कम है, लेकिन जिस विषय वस्तु को लेकर लिखा गया है, उसका सीधा सरोकार

मनुष्य से है। हेमिंग्वे के उपन्यास के बूढ़े आदमी के सामने अछोर फैला समुद्र है और उसकी अदम्य जिजीविषा ही निरंतर उसे संघर्ष से जूझने की शक्ति देती है। मेरे कहने का आशय यह है कि जिस तरह मुक्तिबोध ने लिखा है—'कहीं भी कविता खत्म नहीं होती', उसी तरह न कोई कहानी और न उपन्यास खत्म होता है। बल्कि जीवन के बाद भी जीवन का सिलसिला चलता रहता है। इसी तरह यथार्थ देशकाल के अनुसार बदलता रहता है। प्रेमचंद के 'कफन' का यथार्थ और सुधा ओम ढींगरा की इस कहानी के यथार्थ में कितना फर्क है? स्वयं इस कहानी के बारे में लेखिका लिखती हैं—'यहां की गंदी बस्तियों में जाने का मौका मिला। गरीबी रेखा के नीचे वालों को मिलने वाली सरकारी सुविधाएं लेते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी निकम्मे, निठल्ले परिवार देखे। सुविधाओं का दुरुपयोग करते हुए चरित्र, कर्मयोग की धज्जियां उड़ते, भौतिकवादी संस्कृति को अंगूठा दिखाते, निर्लिप्त, तटस्थ और बेलाग से अपनी एक दुनिया बसाए हुए, कठोर-कायदे कानून, अनुशासन और सरकारी तंत्र को ढीठता से नकारते हुए एक वर्ग में, प्रेमचंद की कहानी 'कफन' के पात्र घीसू और माधो का विश्वव्यापी रूप पाया तो विचलित हो उठी, अंतःकरण छीज गया। समृद्ध राष्ट्र के अंधेरे कोने भारत की अंधी गलियों की तरह ही भयावह हैं। भोजन के लिए मिले कूपन बेचकर शराब, सिगरेट और औरत का जुगाड़ करनेवालों ने अंदर एक कोलाहल पैदा कर दिया। अकर्मण्यता के धिनौने रूप और विश्व- व्यापी मानसिकता ने कहानी के बीज डाले और जिज्ञासा में इन्हीं बस्तियों की क्लबों को खंगालते हुए कहानी को खाद-पानी मिला।'

जब मैं यह कहानी पढ़ रही थी तो मुझे

प्रेमचंद की चर्चित और विवादास्पद कहानी 'कफन' के कुछ प्रसंग याद आ रहे थे। लेकिन मैं समझ नहीं पा रही थी कि भारत के लगभग 75-80 वर्ष पहले का यथार्थ आज के अमेरिका का यथार्थ कैसे हो सकता है? यद्यपि इस कहानी में अमेरिकी नागरिकों को वहां की सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सुविधाओं का विस्तार में वर्णन है फिर भी इस कहानी के माध्यम से आप अमेरिका को कितना जान सकते हैं। बाद में जब मैंने सुधा ओम ढींगरा से संपर्क करके इस कहानी पर उनकी रचना-प्रक्रिया जाननी चाही तो मुझे अच्छा लगा कि उन्होंने प्रेमचंद की कहानी 'कफन' का संदर्भ दिया है। इससे मेरी धारणा की पुष्टि ही नहीं हुई बल्कि यह भी लगा कि पुराना यथार्थ एक विकसित और संपन्न अमेरिका जैसे राष्ट्र का वर्तमान यथार्थ भी हो सकता है, देशकाल के फर्क और दूरी के बावजूद।

इस कहानी की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसका नैरेशन बहुत दिलचस्प ही नहीं लगता बल्कि कहानी के कहानीपन को अक्षुण्ण रखते हुए पाठकों की उत्सुकता बनाए रखता है। कहानी का आरंभ देखिए—“वे गत्ते का एक बड़ा सा टुकड़ा हाथ में लिए कड़कती धूप में बैठ गए, जहां कारें थोड़ी देर के लिए रुक कर आगे बढ़ जाती हैं। बिना नहाए-धोए, मैले-कुचैले कपड़ों में वे दयनीय शकल बनाए, गत्ते के टुकड़े को थामे हुए हैं, जिस पर लिखा है—‘होम लेस, नीड यौर हैल्प’। कारें आगे बढ़ती जा रही हैं, उनकी तरफ कोई ध्यान नहीं दे रहा। ...ज्यों ही कारें रुकती हैं, वे गत्ते के टुकड़े को उनके सामने कर देते हैं, कुछ लोगों ने उन्हें गाली दी—‘बास्टर्ड, यू आर बर्डन ऑन द सोसायटी।’ कुछ ने अपनी कार का शीशा नीचे करके कहा—‘वाय यू गार्ड्स डॉट वर्क?’ दोनों हीट हो चुके हैं, गालियां सुन कर चेहरा भावहीन ही रहता है और दोनों ऐसा अभिनय करते हैं कि जैसे उन्होंने कुछ सुना नहीं।”

जिस तरह यह कहानी आरंभ होती है और कार का शीशा उतारकर गत्ते के टुकड़े पर लिखी इबारत को पढ़कर अंग्रेजी में गालियां देकर कारें आगे बढ़ जाती हैं, उससे साफ पता चलता है कि विदेशी पृष्ठभूमि पर लिखी यह कहानी है। गत्ते पर जो लिखा है—‘होम लेस, नीड यौर हैल्प’ से भी कुछ संकेत मिलता है कि अमेरिका में होम लेस लोगों के प्रति



सहानुभूति है और इस भावनात्मक कमजोरी का कुछ लोग दुरुपयोग कर रहे हैं। वस्तुतः यह कहानी अमेरिका के एक जैसे शहर की कहानी है जिसके किसी छोर पर एक जर्जर खस्ताहाल मकान है। इस मकान का भी एक इतिहास है—इस बड़े परिवार में अविवाहित महिला टैरी और उसकी मां है। टैरी का काम है मौज-मस्ती करना, अमीर लोगों को फंसाना और ऐश करना। इस तरह वह 11 बच्चों को जन्म देती है, जिनका पालन-पोषण उसकी मां करती है। मां के स्वभाव, रहन-सहन और आदतों का परिणाम यह निकला कि बेटियां मां के ही नक्शे कदमों पर चलती हुई, रोज पुरुष बदलती हैं और अविवाहिता माएं बनकर सरकारी भत्ता ले रही हैं। दो बेटे नशा बेचने वाले गिरोह में शामिल होकर न्यूयार्क चले गए। दो चोरी-डकैती में जेल में हैं, उनका जेल में आना-जाना लगा रहता है। एक बेटा किसी बिल्डर के साथ काम करता है और वह ही सही ढंग का निकला है। एक बेटे ने मैरुआना के पौधे घर के पिछवाड़े में उगा लिए थे और उसे स्कूल के बच्चों को बेचने लगा था। चूंकि अमेरिका में 18 वर्ष के होने तक बच्चों की जिम्मेदारी सरकार की होती है। टैरी की मां उसे बराबर टोकती भी है लेकिन उसे मौज-मस्ती करने से फुर्सत कहां? इन 11 बच्चों में सबसे छोटे जुड़वां भाई पीटर और जेम्स हैं। शेष भाई जेल में हैं। ले-देकर एक भाई कुछ ठीक है और उसने भरपूर कोशिश की कि पीटर और जेम्स किसी अच्छे काम पर लग जाएं ताकि जिन्दगी ठीक से गुजर-बसर कर सकें। लेकिन जेम्स और पीटर काहिल, कामचोर, निकम्मे और मुफ्त की कमाई करने वाले निकले। अमेरिका में ऐसे लोगों को जो गरीबी रेखा से

नीचे के हैं, उनके लिए शेल्टर होम और खाने के लिए, सरकार, कूपन उपलब्ध कराती है बल्कि कुछ स्वयं सेवी संस्थाएं भी मदद करती हैं। पीटर और जेम्स की समस्या यह है कि सरकार से खाने के कूपन तो उन्हें मिल जाते हैं लेकिन शराब और लड़की पाने के लिए उन्हें अतिरिक्त पैसों की आवश्यकता होती है जिसके लिए वे गत्ते का पोस्टर बनाकर भीख मांगते हैं, फिर भी उन्हें पर्याप्त डॉलर नहीं मिलते। मौज-मस्ती के लिए वे एक रास्ता निकालते हैं। मुफ्त के किचेन में खाना खाकर वे सरकारी कूपन बचा लेते हैं और फिर उन्हें आधे दाम में बेचकर शाम में एक क्लब में जाने की तैयारी करते हैं। अब उस पुराने घर के इतिहास को देखें, जहां स्थाई रूप से दो बहनें अपने तीन-तीन बच्चों के साथ रह रही हैं। इस घर में जब-तब भूले-भटके भाई आते-जाते रहते हैं। पीटर और जेम्स का भी इस घर में एक अलमारी में बंद ताले में कुछ सामान है—आयरिश स्प्रिंग साबुन, राईट गार्ड डीओडोरेंट, माउथ फ्रेशनर, प्रेस किए हुए कपड़े आदि। वे क्लब जाने की तैयारी खूब जोर-शोर से करते हैं। नहा-धोकर एकदम फ्रेश, प्रेस किए हुए कपड़े, परफ्यूम, क्लीन शेव करके वे शाम में क्लब पहुंचते हैं। इस क्लब में बार भी है और रेस्तरां भी है। इन्हें देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि वे वही दोनों थे जो हाथ में गत्ता उठाए भीख मांगते हैं। क्लब का मुआइना करने के बाद वे बीयर का ऑर्डर देते हैं। गला तर होते ही उनकी नजर दो खूबसूरत यौवन से मदमाती लड़कियों पर पड़ती है जिनके हाथ में वाईन के गिलास खाली हो चुके हैं। बैरे को बुलाकर वे संकेत से उन दोनों के गिलासों को भरने का ऑर्डर देते हैं। लड़कियां समझ जाती हैं और बाद में धन्यवाद देने के लिए उनके पास पहुंचती हैं। फिर उन लड़कियों—लौरा और सहारा के साथ वे डांस करने लगते हैं। शराब के नशे और स्त्री अंग के स्पर्श से उनमें कामोत्तेजना पैदा होती है। बीच में दोनों से संवाद होता है और बाद का कार्यक्रम वे निश्चित कर लेते हैं लेकिन दोनों लड़कियां वाशरूम के बहाने वहां से खिसक ही नहीं जाती हैं बल्कि उन दोनों की जेबों से पैसे निकाल लेती हैं। बाद में जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह वीभत्स भी है और घिनौनी भी। वे और शराब पीते हैं और डांस करने लगते



हैं। अंततः सिक्वोरिटी गार्ड्स उन्हें क्लब से बाहर निकाल कर एक कोने में छोड़ देता है।

रात बीतने के बाद और सुबह होने पर जब सूरज की रोशनी उन पर पड़ती है तो झल्ला कर कहते हैं—‘सूरज क्यों निकलता है’ क्योंकि वे गहरी तन्द्रा में थे। बाद में क्लब के सफाई कर्मचारी उन्हें वहां से भगा देते हैं।

यह कहानी किंचित लंबी है लेकिन उबाऊ नहीं। कहानी की पठनीयता आरंभ से लेकर अंत तक बनी रहती है। यह सुधा ओम ढींगरा की एक वयस्क कहानी है जिसमें यथार्थ की अनेक परतें हैं। ऊपर से देखने पर यह कहानी किसी पाठक को सामान्य लग सकती है लेकिन इस कहानी की रचना प्रक्रिया बहुत जटिल है क्योंकि अमेरिका जैसे सम्पन्न आधुनिक तथाकथित सभ्य राष्ट्र के वर्तमान यथार्थ का घिनौना चेहरा है। यह अकारण नहीं है कि यह कहानी हमारी स्मृतियों में देर तक टिकती है क्योंकि इसमें कहीं कोई वाग्जाल नहीं है। पूरी कहानी शुरू से आखिर तक संवाद में और विवरण में विश्वसनीयता लिए हुए हैं। पीटर और जेम्स दोनों के अपने-अपने तर्क हैं। वे अमेरिका की मंदी को इसलिए कोसते हैं कि उन्हें भीख में पर्याप्त डालर नहीं मिलते। और तो और काम न करने का उनका तर्क देखिए—“हमें दूसरे लोगों की तरह दो वक्त के भोजन के लिए काम कर-करके मरना-खपना नहीं है। वह तो हमें बिना काम किए ही मिल जाता है।”

यह कहानी मुझे सचमुच अच्छी लगी है खासकर इसलिए कि इसे एक प्रवासी लेखिका ने लिखा है और हमें एक बिल्कुल नए यथार्थ से परिचित कराया है।

बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार,
फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 9891349058

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियाँ, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृत्तांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड ‘हिंदुस्तानी की परंपरा’ का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096

फोन : 09650101266

राजनीति के अंतर्गत का अनावरण

अनंत विजय

न

वंबर 1963 के सोवियत लिटरेचर के अंक के एक लेख में सोवियत लेखकों पर टिप्पणी करते हुए कॉस्तानिन फेदिन ने कहा था—

यथार्थ की सामग्री सतत बदलती जा रही है। अतः स्वभाविक है कि उपन्यास में उसकी अभिव्यक्ति भी परिवर्तित रूप में होगी। रूप रेडीमेड पोशाक नहीं है। उपन्यासकार का इसके संबंध में दृष्टिकोण भी उस सामग्री से उत्पन्न होता है जिसे उसने जीवन से ग्रहण किया है। हम कह सकते हैं कि आजादी के बाद और खासतौर पर नब्बे के दशक में शुरू हुए उदारिकरण के दौर के बाद भारतीय राजनीति के यथार्थ की सामग्री भी सतत बदलती चली जा रही है। आजादी के वक्त के मूल्यों का लगातार क्षरण हो रहा है। वक्त के साथ भारतीय राजनीति और राजनेताओं का चेहरा भी बदलता चला जा रहा है। सेक्स और स्त्रीज की राजनीति बढ़ती चली गई। कई महिलाओं के गुमनामी से अचानक बाहर निकलकर राजनीति में अहम हो जाने के उदाहरण हमारे सामने आने लगे। किसी महिला का नाम लेना यहां उचित नहीं होगा लेकिन भारतीय राजनीति में रुचि रखनेवालों को इनकी पहचान करने में जरा भी दिक्कत नहीं होगी। इस दौर में आई कई फिल्मों में राजनीति की इस बदलती छवि को पेश किया गया है। राजनीति और उसके पर्दे के पीछे चलनेवाले छल-प्रपंच पर हिंदी में बहुत कम लिखा गया। फिलहाल तो विभूति नारायण राय का उपन्यास 'तबादला' ही याद आ रहा है जिसमें विभूति नारायण राय ने तबादले के खेल और उसमें एक महिला की भूमिका पर बेबाकी से लिखा है।

अंग्रेजी में तो इस विषय पर कई उपन्यास लिखे गए हैं जिसमें राजनीति के बदलते चेहरे पर लेखकों ने लिखा है जिसमें से कई तो आत्मकथा, कई जीवनी और कई संस्मरणों की शक्ल में सामने आए हैं। अभी हाल में ही सत्रह किताबें लिखकर मशहूर हो चुकी लेखिका और भारतीय

अंग्रेजी महिला लेखन की स्टार राइटर शोभा डे की नई किताब 'सेठजी' छपकर आई है। अपनी इस किताब में शोभा डे ने भारतीय राजनीति के उस विद्रूप चेहरे को सामने लाने की कोशिश की है जिसके बारे में बातें तो खूब होती हैं लेकिन उसपर लिखने का साहस कम लेखकों ने किया है। शोभा डे जब भी किसी विषय पर लिखेंगी तो उसमें सेक्स एक अनिवार्य तत्व की तरह से आता है। तकरीबन तीन सौ पृष्ठ की इस किताब में भी शोभा डे ने सेक्स के भरपूर प्रसंग डाले हैं। शोभा डे जब सेक्स प्रसंगों को लिखती हैं तो वे फुटपाथ पर पीली पन्नी के अंदर बिकनेवाली अश्लील किताबों के रचनाकारों को भी मात देती हैं। समीक्षित उपन्यास—'सेठजी' की महिला पात्र अमृता को जब उसका पुराना प्रेमी उत्तेजना के अंतरंग क्षणों में छोड़कर चला जाता है तब जिस तरह से वह अपने आपको बाथरूम में रिलैक्स करती है, इसका वर्णन बेहद घटिया है। इस तरह के कई प्रसंग और अंतरंग क्षणों का वर्णन इस



किताब में है। पहले के अपने लेखन में भी शोभा डे ऐसा लिखती रही हैं। शोभा डे के इस तरह के लेखन के मद्देनजर ही ब्रिटेन के प्रख्यात साहित्यकार रेजीनॉल्ड मैसी ने अभी हाल ही में अपने भारत दौरे के दौरान टिप्पणी की थी—शोभा डे खूबसूरत हैं लेकिन सॉफ्ट पोर्नोग्राफी (अश्लील साहित्य) लिखती हैं। रेजीनॉल्ड मैसी ने शोभा डे पर हमला करते हुए कहा था कि—'लोगों के भाग्य उदय होने के अलग-अलग कारण होते हैं। मशहूर लेखिका शोभा डे भारत में एक बड़ा नाम है लेकिन उनके मशहूर होने की प्रमुख वजह उनके द्वारा रचा जाने वाला अश्लील साहित्य है। वे एक खूबसूरत महिला हैं, स्टाइलिश हैं, लेकिन मैं उन्हें गंभीर लेखक नहीं मानता।' मैसी ने जो कहा है उससे असहमत होने की कोई वजह है नहीं है बल्कि 'सेठजी' ने उसको पुष्ट ही किया है।

'सेठजी' एक ऐसे राजनेता की कहानी है जो भारतीय राजनीति के गठबंधन के दौर में अपनी ताकत की वजह से अहम है। वह सरकार को समर्थन की कीमत वसूलना जानता है। वह एक बेहद गरीब पृष्ठभूमि से उठकर अपने एक दोस्त की मदद और अपनी दबंगई की वजह से राजनीति के शिखर तक पहुंचता है। मुफलिसी और अपने संघर्ष की वजहों से वह अपने व्यवहार और कारनामों में बेहद निर्मम है। एक तरफ वह घंटों पूजा करता है तो दूसरी तरफ रोजाना मालिश भी करवाता है। मालिश करनेवाले हिम्मताराम के साथ अपने राज भी शेयर करता है। हिम्मताराम के हाथों मालिश करवाकर उसे एक खास किस्म का सुकून मिलता है। शोभा डे ने अपने इस उपन्यास में सेठजी का जो चित्रण किया है वह एक ऐसे खालिस और खांटी गंवई राजनेता का है जो अपनी पत्नी की मौत के बाद अपनी यौनाकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने लगभग नपुंसक बेटे श्रीचंद की शादी एक खूबसूरत और बिंदास लड़की—अमृता से करवा देता है। फिर एक दिन मौका पाकर अपनी बहू के साथ

शारीरिक संबंध बनाता है। उसके बाद से बहू अमृता और बिंदास हो जाती है और सेठजी के सारे निर्णयों को प्रभावित करने लगती है। सेठजी के घर में उसका ही राज चलता है। उधर अमृता का लाचार और बेबस पति कहीं और सुकून की तलाश में रहता है और अमृता और सेठजी के संबंधों से अनजान दिखने की कोशिश करता है।

इस उपन्यास की शुरुआत ही सेठजी के छोटे बेटे सूरज के एक नाबालिग लड़की के बलात्कार करने से शुरू होता है। सेठजी का छोटा बेटा सूरज एक बिगड़ेल रईसजादा है, जो देर रात पार्टियों में जाता है और कपड़े की तरह पार्टनर बदलने में यकीन रखता है, महंगे कपड़े, महंगी गाड़ियाँ और महंगे शराब का शौकीन है। जब अमृता इस खबर को लेकर अपने बाबूजी यानि सेठजी के कमरे में जाना चाहती है तब सेठजी मालिश करवा रहे होते हैं। सेठजी पर आसन्न राजनीतिक संकट को भांपते हुए अमृता जब उनके कमरे में पहुंचती है और सूरज के बलात्कार की बात बताती है तो सेठ जी का रुख बेहद ठंडा होता है। वह पहले तो इसे एक मामूली घटना मानते हुए कोपत में अमृता से कहते हैं कि उसे मालिश खत्म होने का इंतजार करना चाहिए था। अमृता जब उन्हें राजनीतिक विरोधियों की चालों और नाबालिग से बलात्कार की गंभीरता को समझाती है तब उन्हें भी कुछ कुछ समझ में आता है। उसके बाद वे अपने सबसे विश्वसनीय सहयोगी और कारोबारी अरुण मेहता से सहायता लेने की बात कहते हैं। अरुण एक ऐसा किरदार है जो अपने कारोबार के लिए सेठजी को इस्तेमाल करता है जिसके एवज में सेठजी के सारे हितों को तो देखता ही है, मोटी कीमत भी देता है। अरुण को लेकर सेठजी हमेशा सावधान भी रहते हैं, उस पर भरोसा नहीं करते हैं और अमृता को भी गाहे बगाहे उससे बचकर रहने की नसीहत देते रहते हैं। सूरज जब बलात्कार करता है तो मदद के लिए सेठजी को अरुण ही याद भी आते हैं। अरुण की सलाह पर ही अमृता एक न्यूज चैनल के दफ्तर में जाकर इंटरव्यू देती है और अपने परिवार का बचाव करती है। इस बीच अरुण से मिलकर वह सूरज को विदेश भिजवाने का इंतजाम भी करती है। इन सब स्थितियों में भी शोभा डे सेक्स को घुसाना नहीं भूलती हैं। चाहे वो न्यूज चैनल के स्टूडियो में एंकर अक्षय तिवारी और अमृता के बीच की ऑफ एयर बात हो या फिर अरुण-अमृता संवाद हो, हर जगह से सेक्स टपकाने की कोशिश लेखिका करती हैं।

तीन भागों में विभक्त इस उपन्यास के

पहले भाग के अंत में अचानक से एक दिन सेठजी को पूरे परिवार के साथ अगवा कर लिया जाता है। यह मुंबई के एक क्षेत्रीय और ताकतवर नेता भाऊ के लोगों द्वारा किया जाता है। कहानी पूरी फिल्मी है और भाऊ का जो चरित्र चित्रण है वह मुंबई के एक ताकतवर नेता से कई मौकों पर मेल खाता है। इस अपहरण कांड की पूरी साजिश एक और कारोबारी जयप्रकाश रचता है क्योंकि वह दिल्ली के अपने प्रतिद्वंद्वी कारोबारी अरुण मेहता से एक बड़ा ठेका छीनना चाहता है। यह ठेका सेठजी ही दिलवा सकते हैं। लिहाजा उनको अगवा करवा कर मुंबई ले आया जाता है। लेकिन अगवा होने से लेकर उपन्यास के अंत तक का लेखन बेहद फिल्मी और पूरी तरह से अविश्वसनीय है। इतना बड़ा नेता कई दिनों से परिवार समेत राजनीतिक परिदृश्य से गायब है लेकिन उसको लेकर कहीं कोई हलचल नहीं हो रही है। वह भी तब जब उसका छोटा बेटा एक नाबालिग से बलात्कार जैसा संगीन वारदात को अंजाम दे चुका है। अपने उपन्यास में शोभा डे ने जिस तरह से न्यूज चैनलों की बात की है उस माहौल में इतने अहम नेता का दिल्ली से गायब होना मीडिया में खबर नहीं बनता है यहां लेखिका से चूक हो जाती है और वो एडवेंचरस बनने के चक्कर में अविश्वसनीय बनती चली जाती है।

अगवा होने के बाद भी कहानी में एक जबरदस्त मोड़ आता है और अमृता का एक पुराना प्रेमी नमूदार होता है जिसने कॉलेज के दिनों में अमृता का कौमार्य भंग किया था। सामाजिक मजबूरियों की वजह से दोनों की शादी नहीं हो पाती है। वो भाऊ के गुंडों की कैद से अमृता और सेठजी को छुड़ाकर सुरक्षित जगह पर पहुंचा देता है। अपनी इस असफलता का बदला लेने के लिए भाऊ के आदमी दुबई में सूरज का कत्ल कर देते हैं। यहां की कथा काफी उलझती चली जाती है। कथा के भीतर कई कथा एक साथ चलती हैं। कारोबारी जयप्रकाश जेठवा और सिमरन की सेक्स कथा को भी शोभा डे ने खूब उभारा है। भाऊ के दोनों बेटों के बीच विरासत के वर्चस्व को लेकर अंदरखाने चलनेवाले संघर्षों और साजिशों को भी शोभा डे ने बुनने की कोशिश की है। पाठकों को चौंकाकर कहानी को आगे बढ़ाने की पुरानी तकनीक का भी इस्तेमाल किया है। भाऊ के बेटे का पुराना सहयोगी एमके, जो कि अमृता का पूर्व प्रेमी है, भी भाऊ के बेटे के खिलाफ साजिश रचता है। वो यह भी नहीं चाहता कि

उसकी इस साजिश के बारे में भाऊ के बेटे को पता चले। अपनी इस साजिश को अंजाम देने के लिए वो भाऊ और उसके बेटों को क्रास भी करता है। अपनी पुरानी प्रेमिका अमृता की मदद भी लेता है। इन साजिशों और चालों के बीच बीच में शोभा डे सेक्स का तड़का लगाते चलती हैं जो अश्लीलता की हद तक चला जाता है। बाद में अमृता और एमके एक रिटायर्ड पुलिस अधिकारी की मदद से भाऊ को खत्म कर देते हैं। भाऊ की गोलियों से भूनकर हत्या के बाद मुंबई में हिंसा तो होती ही है, उसके आदमी अमृता के पति श्रीचंद को खत्म कर देते हैं। इस पूरे प्रसंग को शोभा डे एक थ्रिलर की तरह से लिखना चाहती हैं, लेकिन फिल्मी होने की वजह से थ्रिलर बनाने की बचकानी कोशिश भर साबित होती है। जिस तरह से शोभा डे ने भाऊ का कत्ल करवाया और उसके बाद भड़की हिंसा का चित्रण किया वह एकदम से अविश्वसनीय प्रतीत होता है। जब भाऊ के कत्ल और श्रीचंद की हत्या के बाद अमृता और सेठजी में संवाद होता है वह चकित करता है। मुंबई से दिल्ली लौटते वक्त सेठजी अमृता को गाली-गलौच करते हैं और उसको श्रीचंद की मौत का जिम्मेदार ठहराते हैं, यह सेठजी के चरित्र को उपन्यास के अंत में थोड़ा संजीदा बनाने की नाकाम कोशिश नजर आती है। उपन्यास का अंत अमृता के शांति कुटीर में छाए सन्नाटे से होता है जहां ना तो सूरज बचता है और ना ही श्रीचंद। बचती है अमृता, जो सेठजी की स्वाभाविक उत्तराधिकारी होने के संतोष और विश्वास से लबालब है। कुल मिलाकर शोभा डे का यह उपन्यास बेहद लचर, कमजोर, सेक्स प्रसंगों की बहुतायत वाली एक ऐसी कमजोर कृति है जो एक लेखक के रूप में शोभा डे की क्षमता पर सवालिया निशान लगाती है। शोभा डे ने उपन्यास के आखिर में लिखे एक छोटे से नोट के अंत में लिखा है—“एक छोटी स्वीकारोक्ति— मैं स्वर्गीय सीताराम केसरी को धन्यवाद देना चाहती थी, उनकी आत्मा को भगवान शांति दे, जिन्होंने मुझे सेठजी को रचने के लिए पर्याप्त समझ दी। अब जबकि यह उपन्यास लिखा जा चुका है, मैं उम्मीद करती हूँ कि सेठजी मुझे अकेला छोड़ देंगे।”

सेठजी/शोभा डे/पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली/ मूल्य :
` 250

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम,
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश मो. : 09871697248